काव्य में रहस्यवाद

लेखक
पं० रामचन्द्र शुक्ल

प्रकाशक
साहित्य-भूषण-कार्यालय,
बनारस

प्रथम संस्करण] १९८६ [बारह आना

वक्तव्य

यह निबन्ध केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि 'रहस्य-वाद' या 'छायावाद' की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्तिवश या जान-बूझकर जो अनेक प्रकार की बे-सिर-पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बन्द हो। कोई कहता है "यही वर्त्तमान युग की कविता है"; कोई कहता है "इसमें आजकल की आकांक्षाएँ भरी रहती हैं" और कोई समझता है कि "बस, यही कविता का रूप है"। किसी सभ्य जाति के साहित्य-क्षेत्र में ऐसे-ऐसे प्रवादों का फैलाना शोभा नहीं देता।

मैं 'रहस्यवाद' का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।

काशी,
विजया-दशमी,
सं० १९८६

रामचन्द्र शुक्ल

काव्य में रहस्यवाद

—oo,o:oo—

"कविता क्या है ?" शीर्षक निबन्ध मे हम कह चुके हैं कि कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् के नाना रूपो और व्यापारो के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौन्दर्य्य दिखाई पड़ता है। इस सौन्दर्य्य के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार और जगत् के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक-रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक-भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जब कि उन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाय। जब तक यह सामंजस्य पूरा-पूरा न होगा तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि कोई पूरी तरह जी रहा है। उसकी सजीवता की मात्रा अधूरी और प्रसार संकुचित समझा जायगा। अतः काव्य का काम मनुष्य के सब भावों और सब मनोविकारों के लिए प्रकृति के अपार क्षेत्र से आलम्बन या विषय चुन-चुन कर रखना है। इस प्रकार उसका सम्बन्ध जगत् और जीवन की अनेकरूपता के साथ स्वतः सिद्ध है।

काव्य-दृष्टि से जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का स्वरूप और सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते; मनुष्य मात्र के भावों के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है; जहाँ व्यक्ति-जीवन का लोक-जीवन में लय हो जाता है, वही भाव की पवित्र भूमि है। वहीं विश्व-हृदय का आभास मिलता है। जहाँ जगत के साथ हृदय का पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति भी स्वतः मंगलोन्मुखी हो जाती है। जो नरक के, पर जन्म के अथवा राज-दंड के भय से ही पाप या अपराध नहीं करते; तथा जो स्वर्ग के या परजन्म के सुख के लोभ से ही कोई शुभ कार्य्य करते हैं, उनमें हृदय के विकास का अभाव और जीवन के सौन्दर्य्य की अनुभूति की कमी समझनी चाहिए।

जीवन का सौन्दर्य्य वैचित्र्य-पूर्ण है। इसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं है। इसमें एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य्य आदि हैं; दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय आदि—एक ओर आलिंगन, मधुरालाप रक्षा, सुख-शान्ति आदि हैं; दूसरी ओर गर्जन, तर्जन, तिरस्कार और ध्वंस। इन दो पक्षों के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य्य का पूर्ण प्रकाश नहीं हो सकता। जहाँ इन दोनों पक्षों में साध्य-साधक-सम्बन्ध रहता है, जहाँ इनमें सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वहाँ की उग्रता और प्रचंडता में भी सौन्दर्य्य का दर्शन होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौन्दर्य्य भी मंगल

का ही पर्य्याय है। जो लोग केवल शान्त और निष्क्रिय (Static) सौन्दर्य्य के अलौकिक स्वप्न मे ही कविता समझते हैं वे कविता को जीवन क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं।

योरप का वर्त्तमान लोकादर्शवाद (Humanitarian Idealism) मनुष्य की अन्तःप्रकृति के एक समूचे पक्ष के सर्वथा निराकरण मे—केवल प्रेम और भ्रातृभाव की भीतरी शक्ति द्वारा क्रूरता, क्रोध, स्वार्थमद, हिंसावृत्ति आदि की चिर शन्ति में—काव्य का परम उत्कर्ष मानता है और उसी के भीतर सौन्दर्य्य और मंगल को बद्ध देखता है। उसका कहना कुछ-कुछ इस प्रकार है—

"सौन्दर्य्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एक दम समूल नष्ट कर देना ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की एक मात्र आकांक्षा है।.....उच्च साहित्य अन्तरात्मा के आन्तरिक पथ का अवलम्बन करना चाहते हैं। ऐसे साहित्य स्वभाव-निःसृत अश्रुजल से कलंक-मोचन करते हैं, आन्तरिक घृणा से पाप को दग्ध करते हैं और स्वाभाविक आनन्द से पुण्य का स्वागत करते हैं॥" *

यह परम भक्त ईसाई टाल्सटाय के साहित्यिक उपदेशो की बंग-प्रतिध्वनि है। थोड़े शब्दो में इसका खुलासा यह है कि संसार मे यदि क्रूरता, हिसा, अत्याचार, स्वार्थमद आदि हैं तो अत्याचारी को विवेकी, क्रूर को सदय, पापी को पुण्यात्मा, अनिष्टकारी को प्रेमी बनाने के अविचल प्रयन्त-प्रदर्शन में ही साहित्य की उच्चता है अर्थात् शुभ और सात्त्विक भावों की अशुभ और तामस

* श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर—"प्राचीन साहित्य"।

भावो पर चढ़ाई और विजय ऊँचे साहित्य का विधान है। क्रूरता पर क्रोध, अत्याचारियो का ध्वस, पापियो को जगत् के मार्ग से हटाना, मध्यम काव्य का विधान है। वर्ण-व्यवस्था से शब्द लें तो एक ब्राह्मण-काव्य है, दूसरा क्षत्रिय-काव्य।

इन आदर्शवादियो का कहना है कि आदर्श को सदा सामान्य जीवन-भूमि से ऊँचे रखना चाहिए। ठीक है। जितने आदर्श होते हैं सब सामान्य भूमि से ऊपर उठे हुए होते हैं। पर यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौन्दर्य्य और मंगल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वहीं मिलती है, मंगल-सौन्दर्य्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को बहुत सकुचित करना है। कोई क्रूर अत्याचारी किसी दीन को निरन्तर पीड़ा पहुँचाता चला जाता है और वह पीड़ित व्यक्ति बराबर प्रेम प्रदर्शित करता और उस अत्याचारी का उपकार साधता चला जाता है, यहाँ तक कि अन्त में उस अत्याचारी की वृत्ति कोमल हो जाती है, वह पश्चात्ताप करता है और सुधर जाता है। यह एक ऊँचा आदर्श है, इसमे सन्देह नहीं। पर इस आदर्श मे केवल दो पक्ष हैं —अत्याचारी और पीड़ित। उस क्रूरता और पीड़ा को देखनेवाले तीसरे व्यक्ति की मनोवृत्ति का मंगलमय सौन्दर्य्य कहाँ है, इसका अनुसन्धान नहीं है। विचारने की बात है कि दूसरो की निरन्तर बढ़ती हुई पीड़ा को देख-देख अत्याचारियों की शुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने मे अधिक सौन्दर्य्य का विकास है, कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितो

और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में। हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य मे मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।

मनुष्य की अन्तःप्रकृति के एक पक्ष के सर्वथा अभाव को चरम साध्य रखकर निवृत्ति के आदर्श-स्वप्न में लीन करने मे ही काव्य की उच्चता हम नहीं मान सकते। यह स्वप्न सुन्दर अवश्य है, पर जागरण इससे कम सुन्दर नही है। स्वप्न और जागरण दोनो काव्य के पक्ष हैं। इन दोनो पक्षो का सामंजस्य- काव्य का चरम उत्कर्ष है। काव्य मे हम 'वादो' का वाहर से आना ठीक नहीं समझते। पर यदि 'वाद' शब्द के विना किसी पक्ष की पहचान न हो सकती हो, तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारा पक्ष है 'अभिव्यक्तिवाद' और 'सामंजस्यवाद'।

आदर्श व्यक्ति सिद्ध हो सकता है पर आदर्श लोक साध्य ही रहा है और रहेगा। जिस दिन यह सिद्ध हो जायगा उस दिन यह लोक कर्मलोक न रहेगा। फिर इसके रहने की भी जरूरत रहेगी या नहीं, नहीं कह सकते। प्रयत्न ही जीवन की शोभा है, जीवन का सौन्दर्य्य है—केवल अपना पेट भरने या आनन्द से तृप्त होने का प्रयत्न नहीं; लोक मे उपस्थित बाधा, क्लेश, विपमता आदि से भिड़ने का प्रयत्न। अँगरेज कवि ब्राउनिंग Browning) ने जीवन के इस प्रयत्न-सौन्दर्य्य की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

"यदि मनुष्य केवल आनन्द से तृप्त होने के लिए ही, ढूँढ़ने,

पाने और आनन्द लेने के लिए ही, बना है तब तो जीवन का इतना गर्व—उसके महत्त्व की इतना चर्चा—व्यर्थ है। यह आनन्द पूरा हुआ कि मनुष्यों के दिन भी पूरे हुए समझिए। क्या पेट-भरे पशु-पक्षी को भी संशय या चिन्ता सताती है?

फिर, प्रत्येक बाधा को जो भूतल के सम-सुगम को विषम और दुर्गम करती हो, खुशी से आने दो; प्रत्येक दंश (पहुँचाए हुए कष्ट) को जो न बैठा रहने देता हो, न खड़ा रहने, बराबर चलाता ही रहता हो, खुशी से लगने दो। हमारे आनन्द बारह आने क्लेश ही हो जायँ तो क्या? प्रयत्नवान् रहो और जो कुछ श्रम पड़े उसे गनीमत समझो। सीखो, कष्ट की परवा न करो; साहस करो, क्लेश से मुँह न मोड़ो"। *

---

* Poor vaunt of life indeed,
Were man but formed to feed
On joy, to solely seek and find and feast.
Such feasting ended, then
As sure an end to men;
Irks care the cropful bird? Frets
Doubt the maw-crammed beast?
 Then welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough,
Each sting that bids nor sit, nor stand, but go
Be our joys three-parts pain!
Strive and hold cheap the strain,
Learn, nor account the pang, dare, never
Grudge the throe

जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रयत्न सौन्दर्य्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान् की मंगलमयी शक्ति का दर्शन होता है। अतः जो आँख मूँद कर काव्य का पता जगत् और जीवन से बाहर लगाने निकलते हैं वे काव्य के धोखे मे, या उसके बहाने से, किसी और ही चीज़ के फेर में रहते हैं। इसी प्रकार जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाप, लालसा या वियोग के नीरव सरव क्रन्दन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्यभूमि समझते हैं उन्हे जगत् की अनेकरूपता और हृदय की अनेक-भावात्मकता के सहारे अन्धकूपता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए। निकलने पर वे देखेंगे कि काव्यभूमि कितनी विस्तृत है। जितना विस्तार जगत् और जीवन का है उतना ही विस्तार उसका है। काव्यदृष्टि से यह दृश्य जगत् ब्रह्म की नित्य और अनन्त कल्पना है जिसके साथ उसका नित्य हृदय भी लगा हुआ है।

यह अनन्त-रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है—हमारी आँखो के सामने बिछी हुई है। समष्टि रूप में यह शाश्वत और अनन्त है। इसी की भिन्न भिन्न रूपचेष्टाओ की ओर हृदय के भिन्न-भिन्न भावो को अपने निज के सम्बन्ध प्रभाव से मुक्त करके प्रवृत्त करना ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मे अपनी व्यक्त सत्ता को लीन करना है। इस पुनीत भावभूमि मे जब तक मनुष्य रहता है तब तक वह अनन्त काव्य के भावुक श्रोता या द्रष्टा के रूप मे रहता है। कुछ लोगो का यह खयाल कि काव्यानुभूति एक और ही प्रकार की

अनुभूति है, उसका प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कोई सम्बन्ध ही नहीं, या तो कोई ख़याल ही नहीं, या गलत है। काव्यानुभूति (Aesthetic mode or state) एक निराली ही अनुभूति है इस मत के कारण योरपीय समीक्षा-क्षेत्र मे वहुत सा अर्थशून्य वाग्विस्तार वहुत दिनों से चला आ रहा है। इस मत की असारता रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने अपने "काव्य-समीक्षा-सिद्धान्त" (Principles of Literary Criticism) में अच्छी तरह दिखाई है।

अपने को भूलकर, अपनी शरीर-यात्रा का मार्ग छोड़कर, जब मनुष्य किसी व्यक्ति या वस्तु के सौन्दर्य्य पर प्रेम-मुग्ध होता है, किसी ऐसे के दुःख पर जिसके साथ अपना कोई खास सम्बन्ध नहीं करुणा से व्याकुल होता है, दूसरे लोगो पर सामान्यतः घोर अत्याचार करनेवाले पर क्रोध से तिलमिलाता है, ऐसी वस्तु से घृणा का अनुभव करता है जिससे सबकी रुचि को क्लेश पहुँचता है, ऐसी बात का भय करता है जिससे दूसरो को कष्ट या हानि पहुँचने की सम्भावना होती है, ऐसे कठिन और भयंकर कर्म के प्रति उत्साह से पूर्ण होता है जिसकी सिद्धि सबको वांछित होती है तथा ऐसी बात पर हँसता या आश्चर्य्य करता है जिसे देख सुनकर सबको हँसी आती या आश्चर्य्य होता है तब उसके हृदय को सामान्य भावभूमि पर और उसकी अनुभूति को काव्यानुभूति के भीतर समझना चाहिए। इसलिए यह धारणा कि शब्द, रंग या पत्थर के द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न की जाती है केवल वही काव्यानुभूति हो सकती है, ठीक नहीं है।

जिस अनुभूति की प्रेरणा से सच्चे कवि रचना करने बैठते हैं, वह भी काव्यानुभूति ही होती है। सत्काव्य और असत्काव्य में—काव्य और काव्याभास मे—यही भीतरी या मार्मिक अन्तर होता है कि सच्चा काव्य सामान्यभूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे सच्चे वर्णनों की केवल नक़ल करता है। न-जाने कितने भाँट-कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की ख़ुशामद मे अपनी समझ मे वीर और रौद्ररस लबालब भर कर बड़ी-बड़ी पोथियाँ तैयार कीं, पर उनको लोक ने न अपनाया। वे यातो नष्ट हो गई या उन राजाओ के वंशधरों के घरो में वेठनो मे लपेटी पड़ी हैं। वे पोथियाँ सच्ची काव्यानुभूति की प्रेरणा से नहीं लिखी गई थीं। उनके नायको की वीरमूर्ति या रौद्र-मूर्ति रामकृष्ण की, शिवा-प्रताप की, वीर-रौद्र-मूर्ति कैसे हो सकती थीं ? उनके उत्साह और उनके क्रोध को लोक अपना उत्साह और अपना क्रोध कैसे बना सकता था ?

अभिव्यक्ति केवल और निर्विशेष नहीं हो सकती। ब्रह्म अपनी व्यक्त सत्ता के भीतर अपने 'सत्' और 'आनन्द' स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए असत् और क्लेश का अवस्थान करता है—अपने मंगल रूप के प्रकाश के लिए अमंगल की छाया डालता है। मंगल-पक्ष में सौन्दर्य्य, हास-विकास, प्रफुल्लता, रक्षा और रंजन इत्यादि हैं; अमंगल-पक्ष में विरूपता, विलाप, क्लेश और ध्वंस इत्यादि हैं। इन दोनों पक्षों के द्वंद्व के बीच से ही मंगल की कला शक्ति के साथ फूटती दिखाई पड़ा करती है। अत्याचार,

क्रन्दन, पीड़न, ध्वंस का सहन जगत् की साधना या तप है जो वह भगवान् की मंगल कला के दर्शन के लिए किया करता है। जीवन प्रयत्न-रूप है, अतः मंगल भी साध्य रहता है, सिद्ध नहीं। जो कविता मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर ही इशारा किया करती है, वह आलस्य, अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है। वह जगत् और जीवन के संघर्ष से कल्पना को भगाकर केवल मनोमोदक बाँधने और खयाली पुलाव पकाने में लगाती है। ऐसी कायर कल्पना ही से सच्चे काव्य का काम नहीं चल सकता जो जगत् और जीवन से सौन्दर्य्य और मंगल की कुछ सामग्री ले भागे और अलग एक कोने मे इकट्ठी करके उछला-कूदा करे।

ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौन्दर्य्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य्य और गत्यात्मक मंगल ही है, पर सौन्दर्य्य की गति भी नित्य और अनन्त है और मंगलकी भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौन्दर्य्य और मंगल वास्तव मे पर्य्याय हैं। कला-पक्ष से देखने में जो सौन्दर्य्य है, वही धर्मपक्ष से देखने से मंगल है। जिस सामान्य काव्यभूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुन्दर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौन्दर्य्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौन्दर्य्य की चर्चा बचाकर मंगल ही का जिक्र किया करता है। टालसटाय इस

प्रवृत्ति-भेद को न पहचान कर काव्यक्षेत्र मे लोकमंगल का एकान्त उद्देश्य रखकर चले इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई, जैसा कि उनकी सबसे उत्तम ठहराई हुई पुस्तको की विलक्षण सूची से विदित होगा। यदि टालसटाय की धर्म-भावना मे व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोक-धर्म का भी समावेश होता तो उनके कथन में शायद इतना असामंजस्य न घटित होता।

अब यहाँ यह बात फिर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारो ओर फैले हुए गोचर जगत् से है; अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है; काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है। मनुष्य का ज्ञान देश और काल के बीच बहुत परिमित है। वह एक बार मे अपने भावो के लिए बहुत कम सामग्री उपस्थित कर सकता है। सदा और सर्वत्र किसी भाव के अनुकूल यह सामग्री उपलब्ध भी नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि सबकी कल्पना इतनी तत्पर नहीं होती कि जगत् की खुली विभूति से संचित रूपो और व्यापारो की वे, जब चाहे तब, ऐसी मर्म-स्पर्शिणी योजना मन मे कर सके जो भावो को एकबारगी जाग्रत कर दे। इसी से सूक्ष्म दृष्टि, तीव्र अनुभूति और तत्पर कल्पना-वाले कुछ लोग कवि-कर्म अपने हाथ मे लेते हैं।

प्रत्येक देश मे काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् रूपी अभि· व्यक्ति को लेकर हुआ। इस अभिव्यक्ति के सम्मुख मनुष्य कहीं प्रेमलुब्ध हुआ, कहीं दुखी हुआ, कहीं क्रुद्ध हुआ, कहीं डरा, कहीं विस्मित हुआ और कहीं भक्ति और श्रद्धा से उसने सिर झुकाया। जब सब एक दूसरे को ऐसा ही करते दिखाई पड़े तब सामान्य आलंबनो की परख हुई और इनके सहारे एक ही साथ बहुत से आदमियों मे एक ही प्रकार की अनुभूति जगाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ। इसका उपयोग जहाँ दस आदमी इकट्ठे होते—जैसे, यज्ञ में, उत्सव मे. युद्ध-यात्रा में, शोक-समाज में—वहाँ प्राय. होता था। धीरे-धीरे इसी अनुभूति-योग की साधना से कुछ अन्तर्दृष्टि-संपन्न महात्माओं को इस विशाल विश्व-विग्रह के भीतर "परम हृदय" की झलक मिली जिससे कविता और ऊँची भूमि पर आई। वे चराचर के साथ मनुष्य-हृदय का संयोग कराने, सर्वभूतों के साथ मनुष्य को तादात्म्य का अनुभव कराने, उठे।

वाल्मीकि मुनि तमसा के हरे-भरे कूल पर फिर रहे थे। नाना वृक्ष और लताएँ प्रफुल्लता से झूम रही थीं। मृग स्वच्छन्द विचर रहे थे; पक्षी आनन्द से कलरव कर रहे थे। प्रकृति के उस महोत्सव में मुनि के हृदय का भी पूरा योग था। उनकी वृत्ति भी उसमें रमी हुई थी। इतने में देखते-ही-देखते क्रौंच के एक जोड़े का नर-पक्षी, रक्त से लिपटा, गिर कर मुनि के सामने तड़फने लगा। क्रौंची शोक से विह्वल ताकती रह गई। सुख-शान्ति का भंग

हुआ। मुनि एकबारगी करुणा से व्याकुल, फिर रोष से उद्विग्न हो उठे। उनके मुँह से यह वाग्धारा छूट पड़ी—

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम-मोहितम् ॥

इस करुण क्रोध की वाणी मे लोकरक्षा और लोकरंजन की साधना-विधि और काव्य के अनेक-भावात्मक स्वरूप की घोषणा थी। मुनि ने तमसा-तट की उस घटना मे सम्पूर्ण लोकव्यापार का नित्य स्वरूप देखा। इससे वे हताश नहीं हुए। ध्यान करने पर उसी के भीतर उन्हें मंगलमयी ज्योति का दर्शन हुआ जिसमें शक्ति, शील और सौन्दर्य्य तीनो विभूतियो का दिव्य समन्वय था। इसी समन्वय को लेकर उनकी वेगवती वाग्धारा चली। यह समन्वय जटिल है—इस प्रकार का है कि चाहे किसी एक को अलग करके लें उसके साथ दूसरी दो विभूतियाँ भी इधर-उधर लगी रहेगी। जैसे, यदि किसी ओर ध्वंस या नाश की ओर प्रवृत्त शक्ति को ले तो और सब ओर से वह शील-साधन और सौन्दर्य्य-विकास करती दिखाई देगी। यदि क्षमा अनुग्रह मे प्रवृत्त शील को लें तो अपार शक्ति उस क्षमा और अनुग्रह के सौन्दर्य्य को बढ़ाती दिखाई पड़ेगी। यदि सौन्दर्य्य को लें तो वह केवल व्याधि के रूप का प्रेम उभारता न दिखाई पड़ेगा, बल्कि शक्ति-शील के योग मे भक्ति, आशा और उत्साह का संचार करेगा।

न तो अन्तःप्रकृति मे एक ही प्रकार के भावो या वृत्तियों का विधान है और न बाह्य प्रकृति मे एक ही प्रकार के रूपो या व्यापारों

का। भीतरी और बाहरी दोनों विधानों मे घोर जटिलता है। इन्हीं जटिलताओं का, इन्हीं परस्पर सम्बद्ध विविध वृत्तियों का, सामंजस्य काव्य का परम उत्कर्ष और सबसे बड़ा मूल्य है। सामंजस्य काव्य और जीवन दोनो की सफलता का मूल मंत्र है। काव्य का जो स्वरूप महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त प्राचीन काल में तमसा के किनारे प्रतिष्ठित किया था, आज ईसा की बीसवीं शताब्दी में इंगलैंड के अत्यन्त निर्मलदृष्टि समालोचक रिचर्ड्‌स, योरपीय समीक्षा-क्षेत्र का बहुत-सा निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा-करकट पार करते हुए, उसी स्वरूप तक पहुँचे हैं।*

अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम मे आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने, हृदय की नसो का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय-सा तांडव करने

---

* Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some equal or more important appetency

× × × ×

The complications possible in the systemisation of impulses are indefinite The plasticity of special appetencies and activeties varies enormously, × ×

The importance of an impulse can be defined as the extent of the disturbance of other impulses in the individual's activities which the thwarting of the impulse involves,

—I A Richards Principles of Literary Criticism, Chap. VII (Third Edition 1928)

या मुँदे नयन-पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना, कहाँ तक ठीक है ? चारों ओर से वेदखल होकर छोटे-छोटे कनकौवो पर भला कविता कब तक टिक सकती है ? असीम और अनन्त की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई जरूरत नहीं। व्यक्त पक्ष में भी वही असीमता और-वही अनन्तता है। व्यक्त और अव्यक्त मे कोई पारमार्थिक भेद नहीं। ये दोनों सापेक्ष और व्यावहारिक शब्द हैं और केवल मनुष्य के ज्ञान की परिमिति के द्योतक हैं। अज्ञात की 'जिज्ञासा' ही का कुछ अर्थ होता है; उसकी 'लालसा' या प्रेम का नहीं। भौतिक जगत् की रूपयोजना लेकर जिस प्रेम की व्यंजना होगी वह भाव की दृष्टि से वास्तव मे भौतिक जगत् की उसी रूपयोजना के प्रति होगा। जगह-जगह जिज्ञासा-वाचक शब्द रख कर उसे किसी और के प्रति बताना या तो प्रिय असत्य या साम्प्रदायिक रूढ़ि ही माना जायगा।

पहले कहा जा चुका है कि जिस प्रकार जगत् अनेकरूपात्मक है उसी प्रकार काव्य भी अनेक-भावात्मक है। प्रेम, अभिलाष, विरह, औत्सुक्य, हर्ष आदि थोड़ी-सी मनोवृत्तियो का एक छोटा सा घेरा सम्पूर्ण काव्यक्षेत्र नहीं हो सकता। इन भावो के साथ और दूसरे भाव—जैसे, क्रोध, भय, उत्साह घृणा इत्यादि—ऐसी जटिलता से गुंफित है कि सम्यक् काव्यदृष्टि उनको अलग नहीं छोड़ सकती ; चाहे उनका सामंजस्य शेष अन्तःप्रवृत्तियो के साथ कभी कभी मुश्किल से ही क्यो न वैठता हो।

आज-कल कवि के 'सन्देश' (message) का फैशन बहुत हो रहा है। हमारे आदि कवि का—आदि से अभिप्राय प्रथम कवि से है जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की—सन्देश है कि सब भूतो तक, सम्पूर्ण चराचर तक, अपने हृदय को फैला कर जगत् मे भावरूप में रम जाओ ; हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। करुण अमर्ष की जो वाणी उनके मुख से पहले-पहल निकली उसमे यही सन्देश भरा था। समस्त चराचर मे एक सामान्य हृदय की अनुभूति का जैसा तीव्र और पूर्ण उन्मेष करुणा में होता है वैसा किसी और भाव में नहीं। इसी से आदि कवि की वाणी द्वारा पहले पहल उसी की व्यंजना हुई। उस वाणी में काव्य के प्रकृत स्वरूप का भी पूरा संकेत था। मनुष्य की अन्त प्रकृति के भीतर भावो का परस्पर जैसा जटिल सम्बन्ध है करुणा और क्रोध का वैसा ही जटिल सम्बन्ध उस वाणी में था। आलबन-भेद से इन दो विरोधी भावों का कैसा सुन्दर सामंजस्य उस हृदय से निकले हुए सीधे-सादे वाक्य में था!

अब उनके सन्देश का कुछ और विवरण लीजिए। रामायण में—विशेपत. वर्षा और हेमंत के वर्णन में—जिस संश्लिष्ट ब्योरे के साथ उन्होंने प्रकृति के नाना रूपो का सूक्ष्म निरीक्षण किया है उससे उन रूपो के साथ उनके हृदय का पूरा मेल पाया जाता है। विना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरो पर दृष्टि न जा ही सकती है, न रम ही सकती है। "काव्य मे प्राकृतिक दृश्य" * नामक

* दे० 'माधुरी'—ज्येष्ठ और आषाढ़ १९८०

निबन्ध मे हमने किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओ का मन में दो प्रकार का ग्रहण बताया था—बिंबग्रहण और अर्थग्रहण मात्र। वर्षा और हेमंत के वर्णन में वाल्मीकि ने बिंबग्रहण कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने वस्तुओ के अलग-अलग नाम नहीं गिनाए हैं; उनके आकार, वर्ण आदि का पूरा ब्योरा देते हुए आस-पास की वस्तुओं के साथ उनका संश्लिष्ट दृश्य सामने रखा है। इसी संश्लिष्ट रूपयोजना का नाम चित्रण है। कवि इस प्रकार के चित्रण में तभी प्रवृत्त होता है जब वह बाह्य प्रकृति को आलंबन-रूप में ग्रहण करता है। उद्दीपन-रूप मे जो वस्तु-विधान होता है उसमें कुछ इनी-गिनी वस्तुओ के उल्लेख मात्र से काम चल जाता है।

वन, पर्वत, नदी, नाले, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, मैदान, कछार ये सब हमारे पुराने सहचर हैं और हमारे हृदय के प्रसार के लिए अभी तो बने हुए हैं; आगे की नहीं कह सकते। इनके प्रति युग-युगादि का संचित प्रेम जो मनुष्य की दीर्घवंश परंपरा के बीच वासना-रूप मे निहित चला आ रहा है उसकी अनुभूति के उद्बोधन में ही मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का पूर्ण परिष्कार और मनुष्य के कल्याण-मार्ग का अबाध प्रसार दिखाई पड़ता है। इन्हे सामने पाकर इनसे यही कहने को जी करता है—

> एहो ! वन, बंजर, कछार, हरे भरे खेत !
> बिटप, बिहंग ! सुनो, अपनी सुनावें हम।
> छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह,
> बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम।

सड़े चले जा रहे हैं बँधे अपने ही बीच,
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम ?
मूल रस स्रोत हो हमारे वही, छोड़ तुम्हे,
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम ?

रूपों से तुम्हारे पले होंगे जो हृदय वे
ही मंगल की योग-विधि पूरी पाल पावेंगे।
जोड़ के चराचर की सुख-सुषमा के साथ,
सुख को हमारे शोभा सृष्टि की बनावेंगे।
वे ही इस महँगे हमारे नर-जीवन का
कुछ उपयोग इस लोक में दिखावेंगे।
सुमन-विकास, मृदु आनन के हास, खग
मृग के विलास बीच भेद को घटावेंगे।

नर में नारायण की कला भासमान कर,
जीवन को वे ही दिव्य ज्योति सा जगावेंगे।
कूप से निकाल हमें छोड़ रूपसागर में,
भव की विभूतियों में भाव सा रमावेंगे।
वैसे तो न जाने कितने ही कुछ काल कला
अपनी दिखाते अस्त होते चले जावेंगे।
जीने के उपाय तो बतावेंगे अनेक; पर
जिया किस हेतु जाय, वे ही बतलावेंगे।

ज्यो-ज्यों मनुष्य अपनी सभ्यता की झोंक मे इन प्राचीन सहचरों से दूर हटता हुआ अपने क्रिया-कलाप को कृत्रिम आवरणों से आच्छन्न करता जा रहा है त्यों-त्यो उसका असली रूप छिपता चला जा रहा है। इस असली रूप का उद्घाटन तभी हुआ करेगा जब वह अपने बुने हुए घने जाल के घेरे से निकल कभी-कभी प्रकृति के अपार क्षेत्र की ओर दृष्टि फैलाएगा और अपने इन पुराने सहचरो के सम्बन्ध का अनुभव करेगा। अपने घेरे से बाहर की क्रूरता और निष्ठुरता के अभ्यास का परिणाम अन्त मे अपने घेरे के भीतर प्रगट होता है। योरपीय जातियो ने एशिया,अफ्रीका और अमेरिका आदि बाहरी भूभागों में जाकर क्रूरता और निष्ठुरता का बड़े अध्यवसाय के साथ अभ्यास किया। फल क्या हुआ? उसी निष्ठर और क्रूर वृत्ति का अत्यन्त भीषण विधान अन्त में गत महायुद्ध मे योरप ही के भीतर सामने आया जिससे वहाँ आध्यात्मिकता की चर्चा का फैशन, जो उन्नीसवीं शताब्दी की आधिभौतिक प्रवृत्ति के हद से ज्याद: बढ़ने पर प्रतिवर्त्तन (Reaction) के रूप मे पहले से चल पड़ा था, ख़ूब चढ़ा। पर इस रोग की दवा अध्यात्मवाद, आत्मा की एकता, ब्रह्म की व्यापकता आदि की बनावटी पुकार नहीं है। इसका एक मात्र उपाय चराचर के बीच "एक हृदय" की सच्ची अनुभूति तथा मनुष्यता तक ही नही उसके बाहर भी भावों का सामंजस्यपूर्ण प्रसार है।

अब तक जो कविता हुई है उसमें मनुष्येतर प्राणियों के—

वृत्त, पशु, पक्षी आदि के—प्रति स्पष्ट रूप में प्रेम की व्यंजना बहुत कम पाई जाती है। यह प्रेम स्वाभाविक और वास्तविक है, इसका अनुभव थोड़ा-बहुत तो सबको होगा। लड़कपन मे जिस पेड़ के नीचे कभी हम खेला करते थे उसे बहुत दिनों पीछे देखने पर हमारी दृष्टि कुछ देर उस पर अवश्य थम जाती है। हम प्रेम से उसकी ओर देखते हुए उसके जीर्ण या बूढ़े होने की बात लोगों से कहते हैं। जिस कुत्ते ने कभी बहुत से कामों में हमारा साथ दिया था उसकी याद हमे कभी-कभी आया करती है। जो बिल्ली कभी-कभी जाड़े की धूप मे हमारे छत के मुँडेरे पर लेट कर अपना पेट चाटा करती थी उसके बच्चों को हम कुछ प्रेम के साथ पहचानते हैं। जिन झाड़ियों को हम अपने जन्मग्राम के पास के नाले के किनारे देखा करते थे उन्हें किसी दूर देश में पहले-पहल देखकर उनकी ओर कम-से-कम मुड़ ज़रूर जाते हैं। पशु भी बदले में प्रेम करते हैं—केवल हित-अनहित ही नही पहचानते—इसके कहने की आवश्यकता नहीं। राम के वन जाने पर उनके प्यारे घोड़ो का हीसना, कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गायो का हूँकना, कवियो ने भी कहा है। तपोवन से प्रस्थान करते समय शकुन्तला की आँखों मे अपने पोसे हुए मृगछौने और सींच-सींच कर बढ़ाए हुए पौधों को देख कर भी कुछ आँसू आए थे।

न-जाने क्यो हमें मनुष्य जितना और चर-अचर प्राणियो के बीच मे अच्छा लगता है उतना अकेले नहीं। हमारे राम भी हमें मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने

अयोध्या की राजसभा में नहीं। अपनी-अपनी रुचि है। अस्तु, यहाँ पर इतना ही कहना है कि भाव-साहित्य मे मनुष्येतर चर-अचर प्राणियों को थोड़ा और प्रेम का स्थान मिलना चाहिए। वे हमारी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं। हम ऐसे आख्यान या उपन्यास की प्रतीक्षा में बहुत दिनों से हैं जिसमें मनुष्यों के वृत्त के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते-बिल्ली आदि का भी कुछ वृत्त हो; घटनाओं के साथ किसी चिरपरिचित पेड़-झाड़ी आदि का भी कुछ सम्बन्ध दिखाया गया हो।

कहीं कहीं विलायती काव्य-समीक्षाओं मे यह लिखा मिलेगा कि प्रकृति का केवल यथातथ्य चित्रण काव्य तो है, किन्तु प्रारंभिक दशा का, उन्नत दशा या ऊँची श्रेणी का नहीं। इस कथन का अर्थ अगर बहुत दूर न घसीटा जाय, अपनी ठीक सीमा के भीतर रखा जाय, तो यही होगा कि प्रकृति के रूपों के चित्रण के अतिरिक्त उनकी व्यंजना पर भी ध्यान देना चाहिए। प्रकृति के नाना वस्तु-व्यापार कुछ भावों, तथ्यों और अन्तर्दशाओं की व्यंजना भी करते ही हैं। यह व्यंजना ऐसी अगूढ़ तो नहीं होती कि सब पर समान रूप से भासित हो जाय, किन्तु ऐसी अवश्य होती है कि निर्दर्शन करने पर सहृदय या भावुक मात्र उसका अनुमोदन करें। यदि हम खिली कुमुदिनी को हँसती हुई कहें, मंजरियों से लदे आम को माता और फूले अंगों न समाता समझें, वर्षा का पहला जल पाकर साफ-सुथरे और हरे पेड़-पौधों को तृप्त और प्रसन्न बताएँ, कड़कड़ाती धूप से तपते किसी बड़े

मैदान के अकेले ऊँचे पेड़ को धूप में चलते प्राणियों को विश्राम के लिए बुलाता हुआ कहें, पृथ्वी को पालती-पोसती हुई स्नेहमयी माता पुकारें, नदी की बहती धारा को जीवन का संचार सूचित करें, गिरि-शिखर से स्पृष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य में पृथ्वी और आकाश का उमंग-भरा, शीतल, सरस और छायावृत आलिंगन देखें, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेंगे।

इसी प्रकार अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर, प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर, जो भाव, तथ्य या उपदेश निकाले जायँगे वे भी सच्चे काव्य होंगे। उदाहरण के लिए अँगरेज़ कवि वर्ड्सवर्थ की "एक शिक्षा" (A Lesson) नाम की कविता लीजिए। इसमें एक फूल का वर्णन है जो बहुत ठंड, मेह या ओले पड़ने पर संकुचित होकर अपने दल समेट लेता है। कवि ने एक बार इस फूल को इस युक्ति से अपनी रक्षा करते देखा था। फिर कुछ दिनों पीछे देखा तब वह जीर्ण हो गया था, उसमें दल समेटने की शक्ति नही रह गई थी। वह मेह और ओले सह रहा था। उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया—

I stopped and said with inly muttered voice.
It doth not love the shower, nor seek the cold,
This neither is its courage nor its choice,
But its necessity in being old.

"मैं रुक गया और मन-ही-मन कहने लगा—यह न तो इस

झड़ी को चाहता है, न इस ठंड ही को। न तो यह इसका साहस ही है, न रुचि। यह जरावस्था की अवशता है।"

प्रकृति की ऐसी ही सच्ची व्यंजनाओं को लेकर अन्योक्तियों का विधान होता है, जो इतनी मर्मस्पर्शिणी होती हैं। साहित्य-मीमांसकों के अनुसार अन्योक्ति मे प्रस्तुत वस्तु व्यंग्य होती है अर्थात् जो प्राकृतिक दृश्य सामने रखे जाते हैं उनसे किसी दूसरी वस्तु की, विशेषतः मनुष्य-जीवन-सम्बन्धी किसी मर्मस्पर्शी तथ्य की, व्यंजना की जाती है। अन्योक्तियों में ध्यान देने की बात यह है कि व्यंग्य तथ्य पूर्णतया ज्ञात होता है और हृदय को स्पर्श कर चुका रहता है, इससे प्रकृति के दृश्यों को लेकर जो व्यंजना की जाती है वह बहुत ही स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण होती है। संस्कृत की जितनी अन्योक्तियाँ मिलती हैं सब इसी ढंग की होती हैं। उनके आधार पर बाबा दीनदयाल गिरि ने अपने "अन्योक्ति-कल्पद्रुम" में बड़ी सुन्दर अन्योक्तियाँ कही हैं। पर दो एक ऐसी अन्योक्तियाँ भी उस पुस्तक में मिलेंगी जिनमें परोक्ष, अव्यक्त या अज्ञात तथ्य की व्यंजना का अनुकरण किया गया है, जैसे—

चल चकई ! वा सर विपय जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह।
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख-अंबोह, मोह दुख होय न ताके।
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर तू चल चकई॥

अज्ञात या परोक्ष तथ्य की व्यंजना की यह हवा कबीर आदि निर्गुण-पंथी संतों की वानी की है, जिसका एकआध झोंका व्यक्तिगत एकान्त उपासना मे लीन रहनेवाले सूरदासजी को भी लगा था। गोस्वामी तुलसीदासजी इससे बचे रहे। अन्योक्ति द्वारा अव्यक्त, परोक्ष या अज्ञात तथ्य की व्यंजना को हम कृत्रिम और काव्यगत सत्य (Poetic truth) के विरुद्ध समझते हैं। जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पन्दन नहीं हुआ, उसकी व्यंजना का आडबर रच कर दूसरो का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकल कर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए। वहीं ऐसी अनुभूति पर विश्वास करनेवाले मिलेगे। खैर, इस बात को अभी हम यहीं छोड़ते हैं और प्रस्तुत प्रसंग पर आते हैं।

प्रकृति की सच्ची अभिव्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों का रमणीय वर्णन भी काव्य का एक बहुत आवश्यक अंग है, यह ऊपर कहा जा चुका। अब हमे यह कहना है कि वैसा ही आवश्यक अग प्रकृति के दृश्यों का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण भी है। दोनों अलग-अलग अंग हैं। दोनों का विधान भिन्न-भिन्न दृष्टियो से होता है। प्रकृति के केवल यथातथ्य सश्लिष्ट चित्रण मे कवि प्रकृति के सौन्दर्य्य के प्रति सीधे अपना अनुराग प्रकट करता है। प्रकृति के किसी खंड के ब्योरों में वृत्ति रमाना इसी अनुराग की

चात है । प्रकृति की व्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों, उपदेशों आदि में कवि की दृष्टि मनुष्य-जीवन पर रहती है। इस भेद को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये। दोनों विधानो का महत्त्व बराबर है। इनमें से किसी एक को उच्च और दूसरे को मध्यम कहना एक आँख बंद करना है। यही एकांगदर्शिता योरपीय समीक्षको का बड़ा भारी दोष है। * यदि योरप के कवि उनकी बातों पर चलते तो वहाँ से कविता या तो अपना डेरा-डंडा उठा लिए होती, या लूली-लँगड़ी हो जाती। तथ्य-ग्रहण में अत्यन्त निपुण शेली, वर्ड्सवर्थ, मेरडिथ आदि बड़े-बड़े कवियो ने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियो की शैली पर कोरे प्राकृतिक दृश्यो का, बिना किसी दूसरे तथ्य-विधान के, बड़ा ही सूक्ष्म और संश्लिष्ट चित्रण किया है—और बहुत अधिक किया है। वे इसके लिए प्रसिद्ध हैं।

प्रकृति की ठीक और सच्ची व्यंजना के बाहर जिस भाव, तथ्य

---

* रिचर्ड्स ने योरपीय समीक्षा-क्षेत्र के अर्थशून्य वागाडंबर और गड़बड़झाले पर बहुत खेद प्रकट किया है। उन्होंने संक्षेप में उसका स्वरूप इन शब्दों में सूचित किया है—

A few conjectures, a supply of admonitions, many acute isolated observations, some brilliant guesses, much oratory and applied poetry, inexhaustible confusion, a sufficiency of dogma, no small stock of prejudices, whimsies and crotchets, a profusion of mysticism, a little genuine speculation, sundry stray inspirations; of such as these is extant critical theory composed.

आदि का आरोप हम प्रकृति के रूपो और व्यापारों पर करेंगे वह सर्वथा अप्रस्तुत अर्थात् अलंकार मात्र होगा, चाहे हम उसे किसी अलंकार के बँधे साँचे में ढालें या न ढालें । उसका मूल्य एक फालतू या ऊपरी चीज़ के मूल्य से अधिक न होगा । चाहे हम कोई उपदेश निकालें, चाहे सादृश्य या साधर्म्य के सहारे कोई नैतिक या 'आध्यात्मिक' तथ्य उपस्थित करे, चाहे अपनी कल्पना या भावना का मूर्त्त विधान करें, वह उपदेश, तथ्य या विधान प्रकृति के किसी वास्तविक मर्म का उद्घाटन न होगा। अन्त.करण की किसी अनुभूति का उद्घाटन भी वह तभी होगा जब किसी सच्चे भाव से प्रेरित और सम्बद्ध जान पड़ेगा । ऐसे तथ्य, कल्पना या विचार का—यदि उसकी कुछ सत्ता होगी—मूल्य पहले उसकी सूक्ष्मता, गंभीरता, रमणीयता, नवीनता आदि की पृथक् परीक्षा द्वारा, प्राकृतिक रूपयोजना को अलग हटा कर, आँका जायगा । जब उसमें कुछ सार ठहरेगा तब प्राकृतिक रूपयोजना के साथ उसके साम्य (Analogy) की रमणीयता का विचार होगा । बनावटी आडंबरवाली कविताओं की परीक्षा के लिए इस पद्धति का बराबर स्मरण रखना चाहिये । इसके द्वारा अप्रस्तुत आरोप मात्र अलग हो जायगा और यह पता चल जायगा कि कुछ विचारात्मक या भावात्मक सार या सचाई है या नहीं ।

कोरे अप्रस्तुत आरोप मात्र पर यदि कोई हृदय की लम्बी-चौड़ी उछल-कूद दिखाएगा तो या तो वह काव्यगत सत्य से बहुत दूर होगी, हृदय के किसी सच्चे भाव की व्यंजना न होगी, अथवा

जिसे वह प्रस्तुत बताता है, वह ज्ञात या अज्ञात, एक ओट या बहाना मात्र होगा। सत्य सबकी सामान्य सम्पत्ति होता है; झूठ हरएक का अलग-अलग होता है। यही बात काव्यगत सत्यासत्य के सम्बन्ध में भी ठीक समझनी चाहिए।

विलायती समीक्षा-क्षेत्र में 'कल्पना' 'कल्पना' की पुकार बहुत बढ़ जाने पर प्रकृति की सच्ची अभिव्यक्ति से विमुख करनेवाले कई प्रकार के प्रवाद प्रचलित हुए। कल्पना के विधायक व्यापार पर ही पूरा ज़ोर देकर यह कहा जाने लगा कि उत्कृष्ट कविता वही है जिसमें कवि अपनी कल्पना का वैचित्र्यपूर्ण आरोप करके प्रकृति के रूपो और व्यापारों को कुछ और ही रमणीयता प्रदान करे या प्रकृति की रूपयोजना की कुछ भी परवा न करके अपनी अन्तर्वृत्ति से रूप-चमत्कार निकाल-निकालकर बाहर रखा करे। पहली बात के सम्बन्ध में हमे केवल यही कहना है कि कल्पना की यह कार्रवाई वहीं तक उचित और कवि-कर्म के भीतर होगी जहाँ तक वह भाव प्रेरित होगी और उसके आच्छादन से प्रस्तुत दृश्य पर से हमारे भाव का लक्ष्य हटने न पाएगा। दूसरी के सम्बन्ध मे हमारा वक्तव्य यह है कि न तो सच्ची कल्पना तमाशा खड़ा करने के लिये है और न काव्य कोई अजायबघर है। कविता मे कल्पना को हम साधन मानते हैं, साध्य नहीं।

प्रकृति के रूपों और व्यापारो का उपयोग साधन-रूप में भी होता है, जैसे, अलंकारों मे। अलंकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की अनुभूति को तीव्र करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं; पर प्रकृति

के रूप और व्यापार का व्यवहार प्रस्तुत के स्वरूप के गोचर प्रत्यक्षीकरण के लिए भी बराबर होता है। तीव्र अन्तर्दृष्टिवाले कवि अपने सूक्ष्म (Abstract) विचारों का बड़ा ही रमणीय मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण करते हैं। यह बात गूढ़ और सूक्ष्म-अर्थगर्भित कविताओं में बराबर पाई जाती है। ऊपर जिस प्रकार की आडंबरी कविता का उल्लेख हुआ है उसका इस प्रकार की कविता से लेशमात्र संबंध नहीं। इसकी अन्वयपूर्ण व्याख्या होने पर विचार जगमगाते हुए बाहर निकलते आते हैं। उसकी तह में विचारधारा का नाम तक नहीं रहता।

सूक्ष्म भावना (Abstract) के मूर्त्त (Concrete) प्रत्यक्षीकरण का विधान लक्षणा द्वारा भी होता है और 'साध्यवसान रूपक' द्वारा भी। लक्षणा व्यंग्य प्रयोजन सिद्ध करने के अतिरिक्त प्रस्तुत भावना के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण भी करती है। लोभ से चंचल मन को यदि कहा जाय कि वह 'किसी ओर लपक रहा है' तो उसकी वृत्ति का स्वरूप गोचर होकर हमारे सामने आ जाता है। सूक्ष्म को मूर्त्त जिस प्रकार कवि लोग करते हैं उसी प्रकार कभी-कभी मूर्त्त को सूक्ष्म भी करते हैं। जब उन्हें किसी गोचर तथ्य के सम्बन्ध में अपने पाठकों की दृष्टि का अत्यन्त प्रसार करके उन्हें विचारोन्मुख और उनकी मनोवृत्ति को गंभीर करना वांछित होता है तब वे उस तथ्य की स्थूलता या गोचरता हटा कर उसे सूक्ष्म भावना (Abstract) के रूप में रखते हैं। ये दोनों विधान उच्च कोटि की कविता में, जिसमें

सूक्ष्म विचारों का गूढ़ अन्तर्न्यास रहता है, बहुत ही प्रभाववर्द्धक होते हैं। पर इनका दुरुपयोग भी बहुत होता है। इधर 'अभिव्यंजना-वाद' के प्रभाव से मूर्त्त विधान की बहुत मिट्टी ख़राब हुई। इस 'अभिव्यंजना-वाद' (Expressionism) का आगे उल्लेख किया जायगा।

पहले हम कह आए हैं कि सच्ची कविता किसी 'वाद' को लेकर नहीं चलती, जगत् की अभिव्यक्ति को लेकर ही चलती है। वाद-ग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है। उसमें प्रकृति के नाना रूप और व्यापार किसी वाद या सम्प्रदाय के घेरे में निरूपित बातो को मूर्त्त रूप मे स्पष्ट करने या काव्य की भावात्मक शैली पर मनोरंजक बनाने के लिए, साधन-रूप में ही व्यवहृत होते हैं। वे अध्यवसान मात्र होते हैं। यदि कोई कहे कि किसी 'वाद' या सम्प्रदाय के भीतर निरूपित बातो की अनुभूति मेरे हृदय में वैसी ही होती है जैसी उन गोचर रूपो या व्यापारों की जिन्हे अभिव्यंजना के लिए मैं सामने रखता हूँ तो एक दूसरा 'वादी' या सम्प्रदायी उन्हीं रूपों और व्यापारो को अपने सम्प्रदाय की बिल्कुल उलटी बातों की अनुभूति प्रदर्शित करने के लिए रखेगा। इस प्रकार कविता के साम्प्रदायिक हो जाने पर प्रकृति के रूप और व्यापार अपने सच्चे अभिव्यक्ति-क्षेत्र से बाहर घसीटे जाकर साम्प्रदायिको की खींच-तान में पड़े रहेंगे और अपना असली प्रभाव खो बैठेंगे।

काव्य की प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से

सिद्ध, लोक-स्वीकृत और ठीक ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसी की होती है। हमारे यहाँ दर्शन के नाना वादों को काव्यक्षेत्र में घसीटने की प्रथा नहीं थी। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, विशुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक वेदान्ती वाद प्रचलित हुए पर काव्यक्षेत्र से, भक्तिकाव्य में भी, वे दूर ही रखे गए। निर्गुण-सम्प्रदायवाले ही सूफियों की नकल पर अद्वैतवाद, मायावाद, प्रतिबिंबवाद इत्यादि की व्यंजना तरह-तरह के रूपकों, साध्यवसान रूपकों, * अन्योक्तियों इत्यादि द्वारा चित्ताकर्षिणी मूर्तिमत्ता के साथ करते रहे। ब्रह्म, माया, पंचेन्द्रिय, जीवात्मा, विकार, परलोक आदि को लेकर कबीरदास ने अनेक मूर्त्त स्वरूप खड़े किए हैं।

इन मूर्त्त रूपकों में ध्यान देने की बात यह है कि जो रूपयोजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादों के स्पष्टीकरण के लिए की गई है उसकी अपेक्षा वह रूपयोजना जो किसी सर्व-स्वीकृत, सर्वानुभूत तथ्य को भावक्षेत्र में लाने के लिए की गई है, कहीं अधिक मर्मस्पर्शिणी है। उदाहरण के लिए मायावाद-समन्वित अद्वैतवाद के स्पष्टीकरण के लिए कबीर की यह उक्ति लीजिए—

---

* इसे रूपकातिशयोक्ति से भिन्न समझना चाहिए जिसमें अध्यवसान आतिशय्य की व्यंजना के लिए होता है। साध्यवसान रूपक (Allegory) में अध्यवसान केवल मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण के लिए होता है, आतिशय्य की व्यंजना के लिए नहीं। साध्यवसान रूपक एक भद्दी चीज़ है इसे विलायती रहस्यवादी ईट्स (Yeats) तक स्वीकार करते हैं।

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी॥

यह वेदांत-ग्रंथों मे लिखा हुआ दृष्टान्त-कथन मात्र है। अच्छा इसी ढंग की एक दूसरी कुछ और विस्तृत रूपयोजना देखिए—

मन न डिगै ताथैं तन न डराई।
अति अथाह जल गहिर गंभीर, बाँधि जँजीर जलि बोरे है कबीर।
जल की तरंग उठी, कटी है जंजीर; हरि सुमिरन-तट बैठे है कबीर॥

इसमे ज्ञानोदय द्वारा अज्ञान का बंधन कटने और भवसागर के पार लगने का संकेत है। यह बंधन हरि की कृपा से कटा है, इससे कबीरदास अब उनका स्मरण करते और गुण गाते हैं। यह एक निरूपित सिद्धान्त का वास्तव में घटित तथ्य के रूप मे चित्रण मात्र है। "ज्ञान से मुक्ति होती है और ज्ञान ईश्वर के अनुग्रह से होता है।" यह एक 'वाद' या सिद्धान्त है। कबीरदासजी इस बात को इस रूप मे सामने पेश करते हैं मानों यह सचमुच हुई है—वे भवसागर के पार हो गए हैं और फूले नहीं समा रहे हैं। हम जानते हैं कि इसकी व्याख्या के लिए ऐसे बँधे और मँजे हुए वाक्य मौजूद हैं कि "यह तो साधक की उस दिव्य अनुभूति की दशा है जिसमें वह अपने को इस भौतिक कारागार से मुक्त और ब्रह्म की ओर अग्रसर देखता है"। पर यदि कोई कहे कि "यह सब कुछ नहीं; यह एक साम्प्रदायिक सिद्धान्त का काव्य के ढंग पर स्वीकार मात्र है," तो हम उसका मुँह नहीं थाम सकते।

अब देखिए कि उक्त दोनों उक्तियों की अपेक्षा कबीरदासजी की नीचे दी हुई दो उक्तियाँ, जो लोकगत या अनुभवसिद्ध तथ्यों को सामने रखती हैं, कितनी मर्मस्पर्शिणी हैं। देहावसान सबसे अधिक निश्चित एक भीषण तथ्य है। उसके निकट होने की कैसी मूर्त्तिमान् चेतावनी इस साखी में है—

वाढ़ी आवत देखि करि तरिवर डोलन लाग।
हमैं कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग॥

"हवा से हिलता पेड़ मानो बढ़ई को आता देख काँपता है—बुढ़ापे से हिलता शरीर मानो काल को पास पहुँचता देख थर्राता है। शरीर कहता है कि हमारे नष्ट होने की परवा नहीं; हे आत्मा! तू अपनी तैयारी कर।"

ऐसी एक और उक्ति लीजिए—

मेरो हार हिरानो मैं लजाऊँ।
हार गुह्यो मेरो राम-ताग, बिचि-बिचि मानिक एक लाग।
पंच सखी मिली हैं सुजान, 'चलहु त जइए त्रिवेनी न्हान'।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, ना जानूँ हार किनहि लीन्ह।
हार हिरानो, जन बिलम कीन्ह। मेरो हार परोसिनि आहि लीन्ह।

यह उस मन के खो जाने का पछतावा है जो ईश्वर का स्मरण किया करता था। जीवात्मा कहता है कि "मुझे पचेन्द्रियाँ बहका कर त्रिगुणात्मक प्रवाह में अवगाहन कराने ले गईं जहाँ मेरा मन फँस गया। उसी मन के प्रेम को लेकर मुझे उस प्रिय के पास जाने का अधिकार था। अब उसके बिना जाते नहीं बनता।

इन्द्रियो ने मुझे बेतरह ठगा"। इस पद में ईश्वर और परलोक मानने वाले मनुष्य मात्र की सामान्य भावना का अनुसरण करके बड़ा ही मधुर मूर्त्त विधान है। कुछ खटकनेवाला शब्द 'त्रिवेणी' (त्रिगुणात्मक प्रवाह) है क्योंकि प्रकृति के तीन गुण एक दर्शन विशेष के भीतर की निरूपित संख्या हैं। पर इस शब्द से अध्य-वसान मे बड़ा सुन्दर समन्वय हो गया है।

अन्योक्ति-पद्धति का अवलंबन कबीरदासजी ने कम ही किया है। अधिकतर स्थानों मे उन्होने विकारो, भूतो, इन्द्रियों, चक्रों, नाड़ियो इत्यादि की शास्त्रों में बाँधी हुई केवल संख्याओं का उल्लेख साध्यवसान रूपको मे करके पहेली बुझाने का काम किया है। उनकी जो अन्योक्तियाँ या अध्यवसान प्रहेलिका के रूप में नहीं हैं और वादमुक्त हैं, वे ही शुद्ध काव्य के अन्तर्गत आ सकते हैं। वाद या सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित बातो को स्वभाव-सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरो के हृदय मे उस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, हम सच्चे कवि का काम नहीं मानते; मतवादी का काम मानते हैं। मनुष्य का हृदय अत्यन्त पवित्र वस्तु है। उसे प्रकृत मार्ग से यों ही इधर-उधर भटकाने की चेष्टा, चाहे वह निष्फल ही क्यों न हो, उचित नहीं।

मनुष्य-जीवन की वर्त्तमान और भविष्य स्थिति के सम्बन्ध में सूक्ष्म विचार द्वारा उपलब्ध तथ्यो और भावनाओं का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण आजकल योरप के काव्यक्षेत्र की सामान्य प्रवृत्ति

है। सभ्यता की वर्त्तमान अवस्था में, जब कि मनुष्य का ज्ञान विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है, ऐसा होना बहुत उचित और स्वाभाविक है। यहाँ पर यह दिखाने के लिए कि सूक्ष्म विचार और व्यापक दृष्टिवाले जीवित योरपीय कवियों की कविता भी कभी-कभी वादग्रस्त होकर किस प्रकार अपना स्वरूप बहुत कुछ खो देती है, हम अँगरेज़ी के आजकल के एक अच्छे कवि अबरक्रौंबे (Lascelles Abercrombie) को लेते हैं जो संकुचित दृष्टि के सिद्धान्ती रहस्यवादी न होने पर भी अध्यात्म की ओर झुककर कभी-कभी रहस्योन्मुख हो जाते हैं।

अबरक्रौंबे में योरप के वर्त्तमान कवियों की थोड़ी-बहुत सब प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कभी वे मिलों, कल कारखानों आदि में काम करनेवाले मजदूरों की दुरवस्था पर, उनके साथ होनेवाले अन्याय और अत्याचार पर, करुणा और रोष प्रकट करते हैं; कभी जगत् जीवन आदि के सम्बन्ध में तत्त्वचिन्तन करते हैं: कभी शरीर, आत्मा, असीम-ससीम की जिज्ञासा की प्रेरणा से रहस्य-भावना में प्रवृत्त होते हैं। इसी जिज्ञासा के क्षेत्र में उन्होंने कहीं-कहीं परोक्ष-सम्बन्धी किसी वाद का प्रत्यक्षीकरण या 'अज्ञात के अभिलाष' का काव्यात्मक प्रतिपादन किया है। "मूर्ख का अनुसन्धान-साहस" (The Fool's Adventure) में उन्होंने "तत्त्वमसि" के निरूपण के लिए जीवात्मा और ब्रह्म का एक खासा संवाद कराया है। एक जिज्ञासु ईश्वर (ब्रह्म) की खोज में मन और आत्मा का सारा प्रदेश छान डालता है और

पहले विश्व की आत्मा तक पहुँचता है और उसी को ब्रह्म मान लेता है। इस पर एक ब्रह्मज्ञानी इस प्रकार उसकी भूल सुझाता है—

........................Poor fool,

And dids't thou think this present sensible world

Was God ?

It is a name...........

The name Lord God chooses to go by, made in language of stars and heavens and life.

"अरे मूर्ख! तू ने क्या इस प्रस्तुत गोचर जगत् को ब्रह्म समझा था? यह तो आकाश, नक्षत्र और जीवन-रूपी भाषा में व्यक्त एक नाम है जो अपने लिए उसने रख लिया है।"

अन्त मे चराचर की सीमा पर पहुँचकर वह अपने अन्तस् के अदृश्य अधिष्ठाता से पूछता है—

Seeker—Then thou art God ?

Within—Ay, many call me so.

And yet, though words were never large enough

To take me made, I have a better name.

Seeker—Then truly, who art thou ?

Within—I am Thy Self.

जिज्ञासु—तो फिर तू ही ब्रह्म है?

अन्तर्वाणी—हाँ, वहुत लोग ऐसा ही कहते हैं। फिर भी, यद्यपि शब्दों के भीतर मेरा स्वरूप नहीं आ सकता, मेरा इससे अच्छा नाम भी है।

जिज्ञासु—फिर तू है कौन ?

अन्तर्वाणी—मैं तू ही हूँ (तेरी आत्मा हूँ)।

इसी प्रकार "तुरीयावस्था" (The Trance) नाम की कविता मे उन्होने ब्रह्मानुभूति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"मैं निश्चय (जिसका सम्वन्ध बुद्धि या विचार से होता है) के ऊपर उठ गया था, काल से परे हो गया था। दिक् के ज्योतिष्क मंडलों से तथा उस कोने से जिसे चेतना या ज्ञान कहते हैं, बिल्कुल बाहर हो गया था। उस दशा में, हे प्रभो ! क्या मैं तुम्हारे बीच में नहीं था।" *

यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत (Transcendental) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई सम्वन्ध नही है। स्वयं अवरक्रोंबे ने ही अपनी एक दूसरी कविता "शरीर और आत्मा" (Soul and

---

* I was exalted above surety
And out of time did fall.

× × × ×

I stood outside the burning rims of place,
Outside that corner, consciousness.
Then was I not in the midst of thee
Lord God ?

Body) में, काव्य की वास्तविक भूमि क्या है, इसका आभास दिया है। उस कविता में आत्मा इस 'चेतना के तंग घेरे' से बाहर होने के लिए मनोमय कोश (ज्ञानेन्द्रियाँ और मन जिनसे सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है) को फेंका ही चाहती है कि शरीर उसको चेतावनी देता है कि ऐसा करने से

"तू इस विस्मयपूर्ण आनन्द को खो बैठेगा जिसे मैंने अपनी विषय विधायिनी इन्द्रियों द्वारा इस प्रिय जगत में खड़ा कर रखा है। फिर यह नील-हरित, यह सौरभ, यह संगीत कहाँ ? फिर यह शाद्वल प्रसार, यह मंद प्रशान्त अनिल-स्पर्श और ढलते सूर्य्य का स्वर्णाभ विराम कहाँ ? फिर ये ऊँची उठी हुई पर्वतों की चोटियाँ कहाँ, जो आँखों पर कुहरे की पट्टी बाँधे (ध्यानावस्थित हो) मानो नित्य और दिव्य अनाहत स्वर सुन रही हैं।" †

मनोमय कोश ही प्रकृत काव्यभूमि है, यही हमारा पक्ष है। इसके भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके

---

† Thou wilt miss the wonder I have made for thee
Of this dear world with my fashioning senses—
The blue, the fragrance, the singing and the green ;
× × × ×
Great spaces of grassy land, and all the air
One quiet, the sun taking golden ease
Upon an afternoon;
Tall hils that stand in weather-blinded trances
As if they heard, drawn upward and held there,
Some god's eternal tune.

उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का—जिसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं—सूचक बताना हम सच्चे कवि का क्या सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।

अब थोड़ा "अज्ञात की लालसा" का विचार भी कर लेना चाहिए जिसका निरूपण अबरक्रोंबे ने मजहबी ढंग पर अपने "संत थूमा का आत्म-विक्रय" (Sale of St. Thomas) नामक काव्य में किया है। ईसाइयों में एक प्रवाद प्रचलित है कि ईसा के चेले थूमा दक्षिण भारत में उपदेश करने आए थे। उसी प्रवाद के आधार पर यह कविता रची गई है। ईसा थूमा को भारतवर्ष में प्रचार के लिए भेजते हैं और वे भाग-भाग आते हैं। जब वे दूसरी बार भागने पर होते हैं, तब हज़रत ईसा उनसे कहते हैं—

"थूमा ! अपना पाप समझो। तुम डर से नहीं भागे हो, न। आदमी एक बार डर से सिट-पिटाता है, पर फिर साहस कर के सब प्रकार की आपत्तियाँ झेलने के लिए तैयार हो जाता है। तुम भागे हो अपनी बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के कारण। यह बुद्धिमानी भी बड़ा भारी पाप है क्योंकि यह मनुष्य की अन्तः प्रकृति में निहित अज्ञात शक्तियों पर विश्वास नहीं करने देती। उनकी प्रेरणाओं को यह सस्ते अनुभवलब्ध विवेचन के पलड़े पर रख कर तोलती है। यह लालसा को ज्ञान या विचार के घेरे में डाल कर संकुचित करती है। पर यह समझ रखो कि मनुष्य उतना ही बड़ा हो सकता है जितना बड़ा उसका अभिलाष होगा।

अतः आत्मदृष्टि उतनी ही दूर तक बँधी न रखो जितनी दूर तक तुम्हारे ज्ञान और बुद्धि के दीपक का प्रकाश पहुँचता है। अपनी लालसा को अज्ञात के अंधकार की ओर छानबीन करने के लिए बढ़ाओ। संभव को जान कर उसके बाहर अनहोनी बातों और असंभव लक्ष्यों की ओर बढ़ो। धीरे-धीरे तुम देखोगे कि तुम्हारा ज्ञात की लालसा का क्षेत्र भी आप-से आप वैसा ही व्यापक हो जायगा जैसा आत्मा का। इस प्रकार सृष्टि का उद्देश्य पूर्ण हो जायगा।"

इस प्रकार हज़रत ईसा के मुँह से रहस्यवाद के सिद्धान्तपक्ष का निरूपण कराया गया है। इसका निचोड़ यही है कि लालसा को व्यक्त और ज्ञात के बाहर, अव्यक्त और अज्ञात तक ले जाना चाहिए। इस कथन पर विचार करने के पहले लालसा या अभिलाप का स्वरूप निश्चित कर लेना चाहिए। लालसा ऐसी वस्तुओं के प्रति होती है जिनकी प्राप्ति या साक्षात्कार से सुख और आनन्द होता है। इस जगत् में सुख और आनन्द दुःख और क्लेश के साथ मिला-जुला पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि जितना आनन्द, जितना सुख-सौन्दर्य्य, इस जगत् में देखा जाता है उतने से मनुष्य की भावना परितृप्त नहीं होती। वह सुख-सौन्दर्य्य को अधिक पूर्ण रूप में देखा चाहती है। भावना या कल्पना को इस पूर्णता के अवस्थान के लिए चार क्षेत्र मिल सकते हैं—

√१. इस भूलोक के बाहर, पर व्यक्त जगत् के भीतर ही, किसी अन्य लोक मे।

२. इस भूलोक के भीतर ही; पर अतीत के क्षेत्र में।

३. इस भूलोक के भीतर ही; पर भविष्य के गर्भ में।

४. इस गोचर जगत् के परे अभौतिक और अव्यक्त के क्षेत्र में।

१. इन चारों क्षेत्रों के भीतर ले जाकर मनुष्य अपनी सुख-सौन्दर्य्य और मंगल की भावना को पूर्णता या पराकाष्ठा तक पहुँचाने का थोड़ा या बहुत प्रयत्न करता रहा है। इनमें से प्रथम क्षेत्र की ओर मनुष्य जाति का ध्यान स्वभावतः सबसे पहले गया। पृथ्वी पर रहकर भी मनुष्य ने व्यक्त जगत् की अनन्तता का प्रत्यक्ष अनुभव किया। अनन्त आकाश के बीच नक्षत्रों के रूप में अनन्त लोकों का निश्चय उसे सहज में हो गया। वहीं पर कहीं उसकी भावना ने स्वर्ग आदि पुण्य लोकों का अवस्थान किया जहाँ जरा-मृत्यु का भय नहीं; दुख, क्लेश, भय का नाम नहीं; आनन्द-ही-आनन्द है—आनन्द भी ऐसा-वैसा नहीं नन्दन-कानन का विहार। लोक-सामान्य धर्म-व्यवस्था और काव्य दोनों में इस भावना का उपयोग हुआ।

२. द्वितीय क्षेत्र में सुख-सौन्दर्य्य की पूर्णता की भावना उस समय से हुई जब प्राचीन इतिहास, कथा-पुराण आदि का मौखिक प्रचार मनुष्य जाति के बीच हुआ। इन कथाओं में पूर्वकाल की वीरता, धीरता, धर्मपरायणता, सुख समृद्धि आदि का बहुत ही मनोरंजक और अत्युक्त वर्णन रहता था जिसे सुनते-सुनते भूतकाल के बीच सुख-सौन्दर्य्य की पूर्णता की

सामान्य धारणा और भी पुष्ट होती रही। यह धारणा पूरबी (एशियाई) जातियो मे अब तक मूलबद्ध है।

३. तृतीय क्षेत्र में सुख-सौन्दर्य्य की पूर्णता की भावना बिल्कुल आधुनिक है। इसका प्रादुर्भाव मनुष्य-जाति की स्थिति पर व्यापक दृष्टि से विचार करने की वर्त्तमान प्रवृत्ति के साथ-साथ हुआ है। धर्मनीति, राजनीति, व्यापारनीति आदि के कारण मनुष्य-जाति के भीतर फैली हुई विपमता, क्लेश, ताप, अन्याय, अत्याचार इत्यादि के परिहार की भावना और प्रयत्न के साथ आशा और उत्साह का संयोग करने के लिए कवियों की वाणी भी अग्रसर हुई। इस प्रकार की कविता का प्रचार योरपीय देशो मे सुख-समृद्धि और स्वातत्र्य के संगीत के रूप मे शेली के समय से लेकर अब तक जारी है। भविष्य का सुख-स्वप्न वर्त्तमान योरपीय कविता के प्रधान लक्षणो मे है। यह मंगलाशा बहुत ही प्रशस्त भाव है, इसमे सन्देह नहीं, पर इसके सम्बन्ध में कुछ अस्वाभाविक और कृत्रिम चर्चा का प्रचार भी देखा जाता है। यह सुख-स्वप्न "भविष्य की उपासना या भविष्य का प्रेम" कहा जाता है। वास्तव मे यह प्रस्तुत जीवन का प्रेम है। आशा इसी प्रेम के संचारी के रूप में उठकर इस जीवन के पूर्ण सौन्दर्य्य का दर्शन इसे भविष्य के क्षेत्र मे ले जाकर करती है। भविष्य के सुख-सौन्दर्य्य के चित्रण की प्रवृत्ति का यही मूल है।

यह चित्रण भी उसी हद तक पहुँचा दिया जाता है जिस हद तक किसी परलोक के सुख-सौन्दर्य्य का चित्रण। अबरक्रोंबे

ने इस जीवन के साथ "नित्य का संयोग" (The Eternal Wedding) किसी भविष्य काल में, निर्विशेष और निरपेक्ष आनन्द का स्वप्न देखते हुए, इस प्रकार कराया है—

.. ..So we are driven
Onward and upward, in a wind of beauty,
Until man's race be wielded by its joy
Into some high incomparable day,
Where perfectly delight may know itself—
No longer need a strife to know itself
Only by prevailing over pain.

"हम सौन्दर्य्य की वायु मे पड़े बराबर आगे और ऊँचे बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य-जाति अन्त में वह अनुपम दिन देखेगी जब आनन्द अपनी अनुभूति आप अकेले कर लेगा— इस अनुभूति के लिए उसे किसी प्रकार के द्वंद्व की अपेक्षा न होगी। आनन्द स्वयंप्रकाश होगा, केवल क्लेश के परिहार के रूप मे न होगा।"

पर यह कहना कि अब 'भूत के प्रेम' के स्थान पर 'भविष्य के प्रेम' ने घर किया है, एक प्रकार की रूढ़ि (Convention) या बनावट ही है। हृदय की दीर्घ वंशपरम्परा-गत वासना का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस वासना के सघटन मे इतिहास, कथा, आख्यान आदि का भी बहुत कुछ योग रहता है। एक भावुक योरोपियन के लिए एथंस, रोम आदि नामों में तथा एक भावुक भारतीय के लिए अयोध्या, मथुरा, दिल्ली, कन्नौज, चित्तौर,

पानीपत इत्यादि नामों मे कितना मधुर प्रभाव भरा है ! अतीत का यह राग कहाँ तक उपयोगी है, इसका विचार करने हम नहीं बैठे हैं। उपयोगिता अनुपयोगिता का विचार छोड़, शुद्ध कला की दृष्टि से हम मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति के स्वरूप का विचार कर रहे हैं। मनुष्य का हृदय वास्तव मे जैसा है वैसा मान कर हम चल रहे हैं। हमारे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि "अतीत का राग" एक बहुत ही प्रबल भाव है। उसकी सत्ता का अस्वीकार किसी दशा में हम नही कर सकते। मनुष्य, शरीर यात्रा के सकीर्ण मार्ग मे मैले पड़े हुए अपने भावों को अतीत की पुनीत धारा में अवगाहन कराकर, न-जाने कब से निर्मल और स्वच्छ करता चला आ रहा है। अतीत का और हमारा साहचर्य्य बहुत पुराना है। उसे हम जानते हैं, पहचानते हैं, इसी लिए प्यार करते हैं। भविष्य को हम नही जानते, उसकी हमारी जान पहचान तक नही। उसके साथ प्रेम कैसा ? परिचय के विना प्रेम हम नही मानते। प्रेम के लिए परिचय चाहिए—चाहे पूरा, चाहे अधूरा।

४. अब इस गोचर-जगत् के परे अभौतिक, अव्यक्त और अज्ञात क्षेत्र को लीजिए। सुख-सौन्दर्य्य की पूर्त्ति के लिए जो तीन क्षेत्र ऊपर निर्दिष्ट किए गए उनमें सबसे अज्ञात भविष्य का क्षेत्र है। उसके अन्तर्गत हम दिखा चुके है कि जो "भविष्य का 'प्रेम' कहा जाता है वह वास्तव मे प्रस्तुत जीवन का प्रेम है जो आशा का संचरण करा के कवि को भविष्य-सुख-सौन्दर्य्य के

चित्रण में प्रवृत्त करता है। वही बात यहाँ भी है। वास्तव मे यह इसी जगत् के सुख-सौन्दर्य्य की आसक्ति या प्रेम है जो संचारी के रूप में आशा या अभिलाप का उन्मेप करके, इस सुख-सौन्दर्य्य को किसी अज्ञात या अव्यक्त क्षेत्र मे ले जाकर पूर्ण करने की ओर प्रवृत्त करता है। अतः तत्त्वदृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से "अज्ञात की लालसा" कोई भाव ही नहीं है। यह केवल "ज्ञात की लालसा" है जो भाषा की छिपानेवाली वृत्ति के सहारे "अज्ञात की लालसा" कही जाती है।

अपने सुख-सौन्दर्य्य की भावना को पूर्णता पर पहुँचाने के लिए इस क्षेत्र की ओर पहले-पहल दृष्टि करनेवाले सूफी थे। उनकी भावुकता इस जगत् की ऐसी विचित्र और रमणीय रूप विभूति को केवल ईश्वर की कृति या रचना मानने से तृप्त नहीं हुई। किसी के बनाए खिलौने की सुन्दरता देख हम चाहे जितने मुग्ध हों—इतने मुग्ध हों कि बनानेवाले का हाथ चूमने को जी चाहे—पर हमारा प्रेम उस (बनानेवाले) से दूर-ही-दूर रहेगा। इससे सूफियों ने इस प्रत्यक्ष रूप-विभूति को ईश्वर की कृति न कहकर उसकी छाया या प्रतिबिंब कहा। किस प्रकार इस प्रतिबिंबवाद' के साथ 'अभिव्यक्तिवाद' का संयोग करके उन्होंने अपने काव्य-क्षेत्र में कृत्रिमता न आने दी, इसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ प्रस्तुत विषय है सुख-सौन्दर्य्य की भावना को अव्यक्त और अभौतिक क्षेत्र मे ले जाकर पूर्णता को पहुँचाना। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि सूफी-कविता

इस छाया के बीच में ही—इस दृश्य जगत् के भीतर ही—उस प्रियतम की झलक देखने-दिखाने मे प्रवृत्त रही है। अव्यक्त के क्षेत्र में सौन्दर्य्य का अनन्त सागर, आनन्द की अपरिमित राशि; प्रेम-वासना की असीम तृप्ति का विवरण देने बहुत ही कम गई है। भारतवर्ष में निर्गुण सम्प्रदाय के भीतर जो सूफी-भावना प्रकट हुई उसमें अलबत यह प्रवृत्ति कुछ दिखलाई पड़ती है। कारण यह है कि भारतीय काव्यक्षेत्र मे उसे अरबी-फारसी के काव्यक्षेत्र की अपेक्षा अधिक रमणीय और प्रचुर रूप-विधान मिला। पर "कल्पत्तावाद" के सहारे अव्यक्त और अज्ञात की सबसे अधिक झाँकियाँ विलायती "रहस्यवाद" मे ही खोली गई।

विलायती काव्यक्षेत्र मे सुख-सौन्दर्य्य की भावना को अज्ञात और अव्यक्त के क्षेत्र मे ले जाकर पूर्णता पर पहुँचाने का इशारा किधर से मिला, थोड़ा यह भी देख लेना चाहिए। यह इशारा जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' (Idealism) से मिला, जिसके प्रवर्त्तक कांट (Kant) थे। उन्होने मनुष्य के ज्ञान की विस्तृत परीक्षा करके यह प्रतिपादित किया कि इन्द्रियो की सहायता से मन को जिन रूपों का बोध होता है वे उसी के रूप हैं; किसी वाह्य वस्तु के नहीं। परमार्थ-पक्ष (Critique of Pure Reason) में ईश्वर, जगत् और आत्मा को, पक्ष-विपक्ष दोनों के प्रमाणों के खंडन द्वारा, असिद्ध ठहरा कर, व्यवहार-पक्ष (Critique of Practical Reason) में उन्होंने ईश्वर, अमर आत्मा और अनन्त जीवन सबका प्रतिपादन किया।

उन्होंने कहा कि शुद्ध बुद्धि के द्वारा तो नाम रूपात्मक जगत् से परे वस्तु-तत्त्व तक हम नहीं पहुँच सकते, पर व्यवहार-बुद्धि द्वारा पहुँच जाते हैं। इच्छा या कर्मेच्छा पारमार्थिक वस्तु का आभास देती है। यह न तो बुद्धि से बद्ध या नियत्रित है और न वाह्य जगत् के नियमों से। इसपर आदेश करनेवाले केवल नित्य और सर्वगत धर्म-नियम हैं। इच्छा का यह स्वातंत्र्य हमें नाम-रूपात्मक दृश्य जगन् से अगोचर जगत् में ले जाता है जहाँ धर्म-नियम, शुद्ध अमर आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व मिल जाता है। जीवन का चरम मंगल क्या है? न अकेला धर्म, न अकेला सुख। धर्म का सुख से कोई स्वत सिद्ध सम्बन्ध नहीं। जीवन के चरम मंगल में धर्म और सुख दोनों की पराकाष्टा है। अब इन दोनों का संयोग कैसे होता है? कोई मध्यस्थ चाहिए। इस लिए ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है। ईश्वर दोनों के बीच संयोग स्थापित करता है। इसी विचार-पद्धति से आत्मा का अमरत्व भी मानना पड़ता है। धर्म की पराकाष्टा और सुख की पराकाष्ठा के साधन के लिए यह अल्पकालिक जीवन काफी नहीं है। अत अनन्त जीवन मानकर चलना पड़ता है। *

कट्टर दार्शनिक कांट के इस व्यवहार-पक्ष-निरूपण पर वैसी आस्था नहीं रखते। कांट अपने परमार्थ-पक्ष-निरूपण के लिए ही प्रसिद्ध हैं। विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि कांट का व्यवहारपक्ष-निरूपण उसी दृष्टि से हुआ है जिस दृष्टि से शंकरा-

---

* विशेष देखिए 'विश्व-प्रपञ्च' की भूमिका।

चार्य्य का; पर दोनों में उतना ही अंतर है जितना भारत और योरप मे। व्यवहार-पक्ष में शंकराचार्य्य ने जिस उपासना-गम्य ब्रह्म का अवस्थान किया है वह सोपाधि या सगुण ब्रह्म है; अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता नहीं। अव्यक्त, निर्गुण, निर्विशेष (Absolute) ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है। इसका तात्पर्य्य यह है कि उपासना जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी; अव्यक्त और निर्गुण की नहीं। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है; निर्गुण और निर्विशेष का नहीं। उसके भीतर सेव्य-सेवक-भाव छिपा हुआ है। स्थूल आकार मात्र हटाकर दया, अनुग्रह, प्रेम, सौन्दर्य्य इत्यादि मे योरपवाले चाहे अभौतिक, अगोचर, अव्यक्त या परा सत्ता की प्राप्ति समझ लें; पर सूक्ष्म भारतीय दार्शनिक दृष्टि इन सब को प्रकृति के भीतर ही लेगी। दया, अनुग्रह, औदार्य्य आदि मन की वृत्तियाँ हैं जो प्रकृति का ही विकार है। इसी प्रकार सौन्दर्य्य, माधुर्य्य आदि भूतों के गुण हैं। ये सब गोचर के अन्तर्भूत हैं, क्योकि मन जो इनका बोध करता है भीतरी इन्द्रिय ही है। भारतीय और योरपीय दृष्टि के इस भेद को ध्यान मे रखना चाहिए।

भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है; अभिलाष या लालसा नहीं। यदि कहा जाय कि 'मोक्ष' की इच्छा का फिर क्या अर्थ होगा? इसका उत्तर यह है कि मोक्ष या मुक्ति केवल अभाव-सूचक

(Negative) शब्द है, जिसका अर्थ है छुटकारा। जिससे मोक्षार्थी छुटकारा चाहता है वह दुःख-क्लेशादि का संघात उसे ज्ञात होता है। छुटकारे के पीछे क्या दशा होगी, इसका न तो उसे कुछ ज्ञान होता है और न अभिलाष हो सकता है। इसीसे हमारे यहाँ के भक्त लोग, जो ब्रह्म के सगुण रूप में आसक्त होते हैं, मुक्ति के मुँह में धूल डाला करते हैं। जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है। उसका ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता। उसका सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाष रतिभाव का एक अंग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान् के सान्निध्य का अभिलाष, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष यह बिल्कुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगंबरी मत माननेवाले देशों में की गई है। इसकी साम्प्रदायिकता हम आगे चलकर दिखाएँगे। यहाँ इतना ही कहने का प्रयोजन है कि अव्यक्त, अगोचर ज्ञान-कांड का विषय है। हमारे यहाँ न वह उपासना-क्षेत्र में घसीटा गया है, न काव्यक्षेत्र में। ऐसी बेढब जरूरत ही नहीं पड़ी।

उपासना के लिए इन्द्रिय और मन से परे ब्रह्म को पास लाने की जरूरत हुई। कहीं तो वह ईश्वर के रूप में केवल मन के पास लाया गया—अर्थात् उसके रूप, आकार आदि की भावना न करके केवल दया, दाक्षिण्य, प्रेम, औदार्य्य आदि की ही भावना

की गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह केवल अन्तःकरण-ग्राह्य भावना भी गोचर भावना ही है। कही इसके आगे बढ़कर विष्णु, शिव इन देव-रूपो मे—अर्थात् मनुष्य से ऊँची कोटि में—वाह्य-करण-ग्राह्य भावना भी हुई। भारतीय भक्ति-भावना यही तक तुष्ट न हुई। वड़े साहस के साथ आगे बढ़कर उसने नर मे ही नारायणत्व का दर्शन किया। राम और कृष्ण को लेकर भक्तिकाव्य का प्रवाह वड़े वेग से चल पड़ा। सारांश यह कि सान्निध्य का अभिलाष अव्यक्त और अज्ञात को दूसरी ओर छोड़कर, व्यक्त और ज्ञात की ओर ही आकर्षित होता हुआ वढ़ा है और उसी को उसने अपना चरम लक्ष्य भी रखा है। यहाँ के भक्तो का साध्य कैवल्य नही रहा।

अव यह देखना चाहिए कि मनुष्य अपनी सुख-सौन्दर्य्य-भावना को जव पूर्णता के लिए चरम सीमा पर पहुँचाता है तव क्या वह सचमुच व्यक्त, भौतिक या प्राकृतिक के परे हो जाता है? उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वह इनके भीतर ही रहता है। भावना या कल्पना में आई हुई या संघटित रूप-योजना, चाहे वह कितनी ही दूरारूढ़ हो, व्यक्त प्रकृति-विकार ही रहेगी। अव रही असीम-ससीम और नित्य-अनित्य की वात। हम पहले कह चुके हैं कि समष्टि रूप में यह विश्व या व्यक्त जगत् अनन्त और शाश्वत है। ब्रह्म के मूर्त्त अमूर्त्त दो रूपों में से मूर्त्त और सत् को जो मर्त्य कहा है * वह

* द्वेवाव ब्रह्मणो रूपो मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यञ्चामृतञ्च, स्थितञ्च यञ्च, सच्च त्यच्च।—मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण (बृहदारण्यकोपनिषद)। दृश्य या मूर्त्त के लिए 'सत्' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में बहुत जगह हुआ है।

केवल सतत गतियुक्त या परिवर्त्तनशील के अर्थ में, सत्ता के अभाव के अर्थ में नहीं। अतः असीम और नित्य के लिए अव्यक्त और अगोचर में जाने की कोई जरूरत नहीं। ब्रह्म के दोनों रूप असीम और नित्य हैं। इस मूर्त्त विराट् के भीतर न जाने कितने लोक, ब्रह्मांड, सौरचक्र बनते बिगड़ते रहते हैं, पर इसकी रूप-सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। अबरक्रोंबे ने अपनी 'निकास' (An Escape) नाम की कविता में असीम और ससीम के अभिलाष के जिस द्वंद्व का वर्णन बड़े रमणीय रूप-विधान के साथ किया है, वह वास्तव में—भारतीय दृष्टि से—व्यक्त और गोचर के भीतर ही है। *

हमारा कहना यही है कि हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाष, जो कुछ प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। प्रति-

* Desire of infinite things, desire of finite—
. . . . 'tis the wrestle of the twain makes man
—As two young winds, schooled 'mong the slopes and caves
Of rival hills that each to other look
Across a sunken tarn, on a still day,
Run forth from their sundered nurseries, and meet
In the middle air ......
And when they close, their struggle is called man,
Distressing with his strife and flurry the bland
Pool of existence, that lay quiet before
Holding the calm watch of Eternity.

बिंबवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्य-क्षेत्र में एक अनावश्यक आडंबर खड़ा करना है। यदि यह कहा जाय कि सदा बदलते रहनेवाले इस दृश्य प्रसार की तह में तो सदा एकरस रहनेवाली अव्यक्त सत्ता है ही, अतः जिस अनुराग के साथ प्रकृति की भव्य रूप-योजना की जाती है उसे उसी अव्यक्त शक्ति या सत्ता के प्रति कहने में क्या हर्ज है, तो इसका उत्तर यह है कि इससे भावक्षेत्र में असत्य का प्रचार होता और पाषंड का द्वार खुलता है। यदि कोई चटोरा आदमी कोई बहुत ही मीठा फल खाकर जीभ चटकारता हुआ उसका बड़े प्रेम से वर्णन करे और पूछने पर कहे कि मेरा लक्ष्य उस फल की ओर नहीं; उस वृक्ष के मूल या बीज की ओर है जिसका वह फल है, तो उसके इस कथन का क्या मूल्य होगा? जो यह भी नहीं जानता कि 'ब्रह्मवाद' और 'कविता' किन चिड़ियों के नाम हैं, जो अँगरेजी की अंधी नक़ल पर बनी बँगला की कविताओं तथा वैष्णव कवियों की बंग-समीक्षाओं तक ही सारी दुनिया खतम समझता है, वह यदि मुँह बना-बनाकर कहने लगे कि "जब मैं ब्रह्मवाद की कोई कविता देखता हूँ तब हर्ष से नाच उठता हूँ" तो एक सुशिक्षित सुननेवाले पर क्या असर होगा ?

अब यहाँ पर थोड़ा यह भी विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि भाव के क्षेत्र में परोक्ष की 'जिज्ञासा' का क्या

उपयोग हो सकता है। स्वाभाविक रहस्यभावना में—जिसका किसी वाद के साथ कोई संबंध नहीं—इसका कभी-कभी बहुत सुंदर उपयोग होता है। वहाँ पर यह प्रकृति के क्षेत्र के किसी अभिव्यक्त सौन्दर्य्य या माधुर्य्य से उठे हुए आह्लाद की अनुभूति की व्यंजना करता है। जैसे शिशु की मधुर मुसकान पर मुग्ध होकर यदि कोई कवि कहे कि "इसके अधरों पर किस आनन्द-लोक की मधुर स्मृति संचरित हो रही है ?"; सौरभपूर्ण कुसुम-विकास देख यदि कहा जाय कि "यह किस सुख-सौन्दर्य्य की अनन्त राशि से चोरी करके भाग आया है" तो प्रस्तुत माधुर्य्य या सुख सौन्दर्य्य के प्राचुर्य्य के निमित्त बड़ा सुंदर औत्सुक्य व्यंजित होगा। यह औत्सुक्य या अभिलाष अव्यक्त या अज्ञात के प्रति कभी नहीं कहा जा सकता ; यह व्यक्त या ज्ञात के प्रति ही होगा। कवि को अपने सामने उपस्थित माधुर्य्य या सुख-सौन्दर्य्य इतना अच्छा लग रहा है कि वह इस भूलोक के अतिरिक्त किसी और—व्यक्त और गोचर ही—लोक की भावना करता है जहाँ इस प्रकार के सुख-सौन्दर्य्य का दर्शन इतना विरल न हो, बराबर चारों ओर देखने को मिला करे। इसमें न कहीं असीम का अभिलाष है, न अज्ञात की लालसा। यह उसी पुरानी स्वर्ग-भावना का आधुनिक सभ्यता के अनुकूल पड़ता हुआ रूप है। स्वर्ग के पुराने निश्चित विवरण में, आधुनिक परिष्कृत रुचि के अनुसार, जो भद्दापन है वह इस अनिश्चित भावना में दूर हो जाता है।

शेली ने अपनी "जिज्ञासा ' (The Question) नाम की कविता बड़ी सुन्दर जिज्ञासा के साथ समाप्त की है। स्वप्न में वे वसन्त-विकास और सौरभ से पूर्ण एक अत्यन्त रमणीय नदी-तट पर पहुँचते हैं। उस व्यक्त और गोचर स्थल का ही बहुत संबद्ध और संश्लिष्ट चित्रण सारी कविता में हुआ है। अन्त में जाकर वे कहते हैं कि ' मैंने फूलों को चुन-चुनकर बहुत सुन्दर स्तवक तैयार किया और बड़े आह्लाद के साथ वहाँ दौड़ा गया जहाँ से आया था कि उसे अर्पित करूँ। पर अरे ! किसे ?" इस 'किसे' में अद्वैत का कैसा सुन्दर आभास मात्र है ! 'वाद' का कोई विस्तार नहीं है।

I made a nosegay...... .....
Kept these imprisoned children of the Hours
Within my hand,—and then elate and gay,
I hastened to the spot whence I had come,
That I might there present it—O ! to Whom ?

इस प्रकार की स्वाभाविक और सच्ची रहस्य-भावना का माधुर्य्य प्रत्येक सहृदय स्वीकार करेगा। पर जब किसी वाद के सहारे वेदना की तरी पर सवार होकर अन्धड़ और अन्धकार के बीच ससीम की असीम की ओर यात्रा होगी, सामने अलौकिक ज्योति फूटती दिखाई देगी, लोक-लोकान्तर और कल्प-कल्पान्तर के समाहृत अरुणोदय में असीम-ससीम के मिलन पर विश्व-हृदय की तंत्री के सब तार झंकारोत्सव करने लगेंगे, आप-ही-आपको

खोजने का स्वप्न टूटने पर अट्टहास होने लगेगा, तब सहृदयता और भावुकता तो कोई और ठिकाना ढूँढ़ेगी ; हाँ, अज्ञानोपासना सिद्धता का मुकुट या पैगंबरी का चौगोशिया ताज पहनाने के लिए ठहरे तो ठहरे।

सारांश यह कि जहाँ तक अज्ञात की ओर अनिश्चित संकेत मात्र रहता है वहाँ तक तो प्रकृत काव्यदृष्टि रहती है पर जब उसके आगे बढ़कर उस अज्ञात को अव्यक्त और अगोचर कहकर उसका चित्रण होने लगता है, उसका पूरा ब्योरा दिया जाने लगता है, तब लोकोत्तर दिव्यदृष्टि का दावा-सा पेश होता हुआ जान पड़ता है। इस दावे का हृदय पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। एक ओर—श्रोता या पाठक के पक्ष में—तो इससे अज्ञान-प्रियता का अनुरंजन होता है, दूसरी ओर—कवि के पक्ष में—उस अज्ञान-प्रियता से लाभ उठाकर अहंकार-तुष्टि का अभ्यास पड़ता है। पहुँचे हुए सिद्ध या ब्रह्मदर्शी बननेवाले बहुत-से साधु शास्त्रों की सुनी-सुनाई बातों को—उनकी कुछ अगाड़ी-पिछाड़ी खोल—पहेली के रूप में करके गँवारों को चकित किया करते हैं। यह प्रवृत्ति शिक्षितों और पढ़े-लिखे लोगों में और भी अनर्थ खड़ा करती है। यदि कोई व्यक्ति अभिज्ञान-शाकुन्तल की आध्यात्मिक व्याख्या करे, मेघदूत के मेघ की यात्रा को जीवात्मा का परमात्मा में लीन होने का साधन-पथ बतावे, तो कुछ लोग तो विरक्ति से मुँह फेर लेंगे, पर बहुत-से लोग आँखे फाड़ कर काष्ठ-कौशिक की तरह ताकते रह जायँगे।

कौन कविता सच्ची रहस्य-भावना को लेकर चली है और कौन वादग्रस्त आडंबर मात्र है, यह पहचानना कुछ कठिन नहीं है। ऊपर जो पहचान बताई गई है वह वर्ण्य वस्तु (Matter) के सम्बन्ध में है। वर्णन-प्रणाली (Form) की कुछ पहचान आगे कही जायगी।

एक ही कवि कभी वादग्रस्त होकर अपने को लोक से परे प्रकट करने का शब्द-प्रयत्न करता है; कभी भाव की स्वच्छ भूमि पर विचरण करता है। वही अवरकवि जो कभी वादग्रस्त होकर "चेतना-नामक कोने से बाहर" की बात कहने जाता है जब लोकवादी (Humanitarian) के रूप मे हमारे सामने आता है, या विशुद्ध काव्यदृष्टि का प्रमाण देता है, तब उसकी सचाई में सन्देह करने की कोई जगह नहीं रह जाती। यही बात श्रीरवीन्द्र-नाथ ठाकुर के सम्बन्ध में भी ठीक समझनी चाहिए। उनकी रहस्यवाद की वे ही कविताएँ रमणीय हैं जो लोकमङ्गल-समन्वित हैं; जैसे, 'गीतांजलि' का यह पद—

जो कुछ दे तू हमे उसी से काम हमारा सरता है।
कमी न होती उसमे कुछ वह पीछे तुझपर फिरता है।
सरिताएँ सब बहती-बहती जगहित मे आतीं जातीं।
अविच्छिन्न धारा से तेरे पद धोने को फिर धातीं।
सभी कुसुम अपने सौरभ से सकल सृष्टि को महकाते।
तेरी पूजा में वे अपना महायोग हैं रच पाते।
जग वंचित हो जिससे ऐसी तेरी पूजन-वस्तु नहीं।
जग-हित में आई न वस्तु जो तव पूजन की नहीं, नहीं।

"तूने मुझे असीम बनाया है" ऐसी कविताओं में यह बात नहीं है। इस ढंग की कविताओं के स्वरूप का कुछ उद्घाटन स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय ने अपनी समीक्षाओं में किया था।

भारतीय काव्यदृष्टि के निरूपण में हम दिखा चुके हैं कि भारतवर्ष में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यही अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है। मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के भीतर ही उसका संचार होता है। "देवता के कोने के बाहर" न वह झाँकने जाती है, न जा ही सकती है। वहीं पर हम यह भी कह चुके हैं कि अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर और निर्विशेष (Static and Absolute) सौन्दर्य्य या मंगल कहीं नहीं है। वह केवल किसी वाद के भीतर ही मिल सकता है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में गत्यात्मक सौन्दर्य्य और गत्यात्मक मंगल ही है। सौन्दर्य्य-मंगल की यह गति नित्य है। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। रवीन्द्र बाबू के दोस्त ईट्स (W. B. Yeats) एक ओर कट्टर देशभक्त और आयर्लैंड की अनन्य आराधना प्रवर्त्तित करनेवाले हैं; दूसरी ओर ब्लेक Blake) के साम्प्रदायिक और सिद्धान्ती रहस्यवाद का पूरा समर्थन करनेवाले। वे भी जब कभी वादमुक्त होकर काव्य की शुद्ध सामान्य भूमि पर आते हैं तब भारतीय दृष्टि के अनुसार सापेक्ष गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य्य की नित्यता और अनन्तता का अनुभव करते हैं। अपनी 'गुलाब' शीर्षक कविताओं में एक स्थल पर वे साफ कहते हैं—

Red Rose, proud Rose, sad Rose of all my days!

× × × ×

Come near, that no more blinded by man's fate,
I find under the boughs of love and hate,
In all poor foolish things that live a day,
Eternal beauty wandering on her way.

"लाल गुलाब, गर्वीले गुलाब, मेरे सब दिन के उदास गुलाब ! पास आओ, जिसमे मनुष्य की गति देखकर मुझमे जो अंधापन आ जाता है वह दूर हो और मैं राग और द्वेष की नाना शाखाओ के तले बैठा हुआ बेचारी इन सब क्षण भर रहनेवाली मुग्ध वस्तुओ मे अनन्त सौन्दर्य्य की अनन्त गति का दर्शन करूँ।"

कविता के मूल मे भाव या मनोविकार ही रहते है, काव्य की आत्मा रस ही है, यह बात इतनी पुरानी पड़ गई है कि नवीनता के बहुत से अभिलाषी, तथ्यातथ्य की बहुत परवा छोड़, इसके स्थान पर कोई और बात कहने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। जगन्नाथ पंडितराज ने रस के स्थान पर "अर्थ की रमणीयता" ग्रहण की ; पर रमणीयता भी रसात्मकता से सम्बद्ध है। मन का रमना किसी भाव में लीन होना ही है। हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है। विलायती साहित्य में 'कल्पना' शब्द की बड़ी धूम देख कुछ लोग कभी-कभी कह देते हैं कि "रसात्मक वाक्य काव्य होता है" इस लक्षण मे कल्पना-पक्ष बिल्कुल छूट गया है ; केवल भाव (Emotion) पक्ष आया है। पर जो

लोग रस-पद्धति को अच्छी तरह समझते हैं और आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव (Emotion. Sentiment) के स्वरूप से भी परिचित हैं, उनके निकट इस कथन का कोई अर्थ नहीं है। 'भाव' कोई एक मानसिक वृत्ति नहीं है; वह एक वृत्ति-चक्र (System) है। जिसके अन्तर्गत प्रत्यय (Cognition). अनुभूति (Feeling), इच्छा (Conation), गति या प्रवृत्ति (Tendency). शरीरधर्म (Symptoms), सबका योग रहता है। हमारे यहाँ रस निष्पन्न करनेवाली पूर्ण भाव-पद्धति में ये सब अवयव रखे हुए हैं। विभावों और अनुभावों की प्रतिष्ठा कवि की कल्पना द्वारा ही होती है और श्रोता या पाठक भी इनकी मूर्त्ति या रूप का ग्रहण अच्छी कल्पना के बिना पूरा-पूरा नहीं कर सकता। विभाव और अनुभाव कल्पना-साध्य हैं।

किसी भाव की रसात्मक प्रतीति उत्पन्न करने के लिए कवि-कर्म के दो पक्ष होते हैं—अनुभाव-पक्ष और विभाव-पक्ष। अनुभाव-पक्ष में आश्रय के रूप, चेष्टा और वचन का और विभाग-पक्ष में आलंबन के रूप, चेष्टा और वचन का विन्यास होता है। इस दृष्टि से शृंगाररस में स्त्रियों के जो हाव या अलंकार माने गए हैं वे विभाव पक्ष के अन्तर्गत होंगे, अनुभाव-पक्ष के नहीं। नायिकाओं में हाव या अलंकार की योजना उनकी मनोमोहकता बढ़ाने के लिए—उन्हें और मनोहर-रूप प्रदान करने के लिए—होती है, भाव की व्यंजना के उद्देश्य से नहीं। नायिका

को आलंबन मानकर, उद्दीपन की दृष्टि से ही, उसमें उन चेष्टाओं का विधान होता है जो हाव और अलंकार कहलाती हैं। अनुभाव और विभाव दोनो पक्षों के विधान के लिए भी और सम्यक् ग्रहण के लिए भी कल्पना-शक्ति अपेक्षित है। विधान के लिए कवि में 'विधायक कल्पना' अपेक्षित होती है और सम्यक् ग्रहण के लिए पाठक या श्रोता मे 'ग्राहक कल्पना'।

रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण ग्रंथों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने से, मिलती है। भारतीय भावुकता काव्य के दो प्रकार के प्रभाव स्वीकार करती है—

१. जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव मे लीन हो जाना।
२. जिस भाव की व्यंजना हो उसमें लीन तो न होना; पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।

दूसरे प्रकार के प्रभाव को मध्यम स्थान प्राप्त है। पूर्णरस की अनुभूति प्रथम प्रकार का प्रभाव है। जिन्हे साहित्य में स्थायी भाव कहते हैं केवल उन्हीं की अनुभूति पूर्णरस के रूप में होती है। वे ही ऐसे भाव हैं जो व्यंजित होने पर पाठक या श्रोता के हृदय में भी उत्पन्न होते हैं। यह नहीं है कि चाहे जिस भाव का विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा विधान किया जाय वह पूर्ण-रस के रूप में अनुभूत होगा। असूया या व्रीड़ा को यदि हम स्वतन्त्र भाव के रूप मे लेकर, उसका विभाव, अनुभाव और

संचारी के द्वारा वर्णन करें, तो भी सुननेवाले को ईर्ष्या या लज्जा का अनुभव न होगा। इनकी अच्छी से-अच्छी व्यंजना को भी वह इसी रूप मे ग्रहण करेगा कि "हाँ! बहुत ठीक है। ईर्ष्या या व्रीड़ा में ठीक ऐसे ही वचन मुँह से निकलते हैं, ऐसी ही चेष्टाएँ होती हैं, ऐसी ही वृत्ति हो जाती है"। सारांश यह कि श्रोता या पाठक भाव की व्यंजना का अनुमोदन मात्र करेगा, उस भाव की अनुभूति में मग्न न होगा।

पूर्णरस की अनुभूति—अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना—क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है, इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्यदृष्टि से जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्य मात्र के भावों के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है, जहाँ हमारी भाव-सत्ता का सामान्य भाव-सत्ता में लय हो जाता है, वही पुनीत रसभूमि है। आश्रय के साथ वह तादात्म्य, आलम्बन का वह साधारणीकरण, जो स्थायी भावों में होता है, दूसरे भावों में—चाहे वे स्वतन्त्र-रूप में भी आएँ—नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुमोदन मात्र करते हैं। इस अनुमोदन मे भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं।

आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन के साथ साधारणीकरण सर्वत्र व्यंजना की प्रगल्भता और प्रचुरता पर ही अवलम्बित नहीं होता। या तो आलम्बन स्वभावत. ऐसा हो, या उसका

चित्रण इस रूप मे हो, अथवा लोक में उसकी ख्याति ऐसी हो कि वह मनुष्य मात्र के किसी भाव को आकर्षित कर सके तभी पूर्ण रसानुभूति के उपयुक्त साधारणीकरण होगा। अधिकतर कविता स्वभावतः अत्यन्त सामान्य आकर्षणवाले विषयों या आलम्बनों को लेकर होती है। दांपत्य प्रेम या शृंगार की कविता की अधिकता का एक यह भी कारण है कि अत्यन्त सामान्य-रूप मे उसका आलम्बन—पुरुष के लिए स्त्री, स्त्री के लिए पुरुष—मनुष्य क्या प्राणि मात्र को आकर्षित करता है। उसकी आलम्बनता स्त्री-जाति और पुरुष-जाति के बीच नैसर्गिक आकर्षण की बड़ी चौड़ी नींव पर ठहरी है। यहाँ तक कि वर्णन न होने पर भी उसका आक्षेप सहज मे हो जाता है। दूसरे भावो के आलम्बनों में कुछ विशिष्टता अपेक्षित होती है, पर साधारणीकरण शीघ्र हो जाता है। क्रोध के आलम्बन का साधारणीकरण सब दशाओं में नहीं होता। यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र आश्रय के क्रोध का पात्र मनुष्य-मात्र के क्रोध का पात्र हो। रौद्ररस में आलम्बन का साधारणीकरण पूरा-पूरा तभी हो सकता है, जब कि वह अपनी क्रूरता, अन्याय, अत्याचार आदि के कारण मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र बनाया जा सके।

पूर्णरस में लीन करनेवाले वाग्विधान में भी यह बात देखी जाती है कि जहाँ वह धारा के रूप मे कुछ दूर तक चलता है, वहीं पूरी तन्मयता प्राप्त होती है। जहाँ सहृदय और सुकंठ कथा-वाचक सहस्रो श्रोताओं को किसी भाव में बहुत देर तक मग्न

किए रहते हैं, जहाँ आल्हा गानेवाले सैकड़ो सुननेवालो को घंटो वीरदर्प से पूर्ण किए रहते हैं, वहाँ भेदभूमि से परे एक सामान्य हृदय-सत्ता की झलक दिखाई पड़ती है। भावो का ऐसा ही अभ्यास शील-निर्माण में सहायक होता है। रामायण, भागवत आदि की कथा सुनकर लौटे हुए लोगो के हृदयों पर भावो का प्रभाव कुछ काल तक रहता है। खेद है कि हृदय के व्यायाम और परिष्कार के लिए जो संस्थाएँ हमारे समाज मे प्रतिष्ठित थीं उनकी ओर से हम उदासीन हो रहे हैं।

मुक्तक कविताओं मे इस प्रकार मग्न करनेवाली रसधारा नही चलती, छींटे उछलते हैं। उनका प्रभाव क्षणिक, अतः अधिकतर मनोरंजन या दिलवहलाव के रूप मे, होता है। राजाओ की सभा में जाकर जब से कवि लोग उनके मनवहलाव का काम करने लगे तव से हमारे साहित्य मे उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण मुक्तको का प्रचार वढ़ने लगा। भोज-ऐसे राजाओं के सामने वात वनानेवाले पद्यकार वातों की फुलझड़ी छोड़कर लाखों रुपये पाने लगे। जब क्षणिक मनोरंजन या दिल-वहलाव मात्र उद्देश्य रह गया तव कुछ अधिक कुतूहल-वर्द्धक सामग्री अपेक्षित हुई। फारस की महफिली शायरी का-सा ढंग यहाँ की कविता ने भी पकड़ा। पर फारस की शायरी अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी संवेदनात्मक रही; उसमें भाव-पक्ष की प्रधानता रही। किन्तु यहाँ वाहरी आडम्वरों की अधिकता हुई; हृदय-पक्ष वहुत कुछ दव गया। फुटकल कविता अधिकतर सूक्ति के रूप मे आ गई।

इसी सम्बन्ध में लगे हाथों यह भी विचार कर लेना चाहिए कि रीति, लक्षण, अलंकार आदि काव्य मे किस रूप में सहायक हो सकते हैं और किस रूप में बाधक। पहली बात तो ध्यान देने की यह है कि लक्षण-ग्रंथो के बनने के बहुत पहले से कविता होती आ रही थी। उन्ही कविताओ को लक्ष्य करके लक्षण बनाए गए। इससे स्पष्ट है कि काव्य की रचना उनपर अवलंबित नहीं। ये लक्षण आदि वास्तव मे काव्यचर्चा की सुगमता के लिए बने। पर बहुत सी काव्य-रचना हमारे यहाँ इन्ही लक्षणो के भीतर आ जाने को ही सब कुछ मान कर होने लगी। कुछ सजीवता न रहने पर भी श्लेष, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि की कसी हुई भरती, तथा विभाव, अनुभाव और संचारी की रस्म-अदाई पर ही वाह-वाह करने की चाल पड़ गई। कुछ-कुछ इसी प्रकार की दशा जब योरप मे हुई और किसी काव्य की उत्तमता का निर्णय साहित्य की बँधी हुई रीति-विधि के अनुसार ही होने लगा, तब प्रभाववादी (Impressionists) उठ खड़े हुए, जिन्होने सुझाया कि किसी काव्य की उत्तमता की सच्ची परख यही है कि वह हृदय पर कैसा प्रभाव डालता है; उससे किस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न होती है।

प्रभाव-वादियो के अनुसार किसी काव्य की ऐसी अलोचना कि "यहाँ रूपक का निर्वाह बहुत अच्छा हुआ है, यहाँ यतिभंग है, यहाँ रसविरोध है, यहाँ पूर्णरस है, यहाँ च्युत संस्कृति या पत-त्प्रकर्ष है" कोई आलोचना नहीं। मान लीजिए कि कोई सुन्दर काव्य हमारे सामने है। उसे पढ़ने में हमे आनन्द की गहरी

अनुभूति हो रही है। बस, यही हमारा आनन्द ही हमारा निर्णय है। इससे बढ़कर और निर्णय हो क्या सकता है? इसके आगे हम बहुत करेंगे तो उस आनन्द की विवृति करेंगे, कि उक्त काव्य का हमारे हृदय पर यह यह प्रभाव पड़ता है, उससे ये ये अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। यह ठीक है कि दूसरे लोग उसी काव्य से दूसरे प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त करेंगे और उन्हे और ही ढंग से प्रकट करेंगे। करे, प्रत्येक सहृदय को अधिकार है कि वह उसके सम्बन्ध में अपनी अनुभूतियाँ प्रकट करे। इस प्रकार एक ही काव्य पर भिन्न भिन्न प्रकार के और कई कला-ग्रंथ तैयार हो जायँगे। वे सब ग्रंथ उस काव्य से और ही वस्तु होंगे, यह अवश्य है। पर यही आलोचन-कला है। इसके आगे समालोचना जायगी कहाँ?

प्रभाववादी के उपर्युक्त कथन पर यदि कोई कहे तो कह सकता है कि "हमें तुमसे प्रयोजन नहीं; उस काव्य से है। तुम्हारे भीतरी स्वास्थ्य को जानने से हमें उस काव्य के रसानुभव में क्या सहायता पहुँचेगी? तुम्हारी अलोचना तो हमारा ध्यान उस काव्य पर से हटाकर तुमपर और तुम्हारी अनुभूतियों पर ले जाती है।" इस पर शायद वह यह कहे कि "इसी प्रकार तो और ढंग की समालोचनाएँ—निर्णयात्मक (Judicial), ऐतिहासिक (Historical) मनोवैज्ञानिक (Psychological) इत्यादि *—भी ध्यान हटाती हैं"। यो यह वाद-प्रतिवाद और

* इन सब प्रकार की आलोचनाओं के विवरण के लिए देखिए हमारा "हिन्दी साहित्य का इतिहास" (पुस्तकाकार संस्करण)

भी आगे बढ़ सकता है। पर हम समझते है कि उसे यहाँ पर आकर रुक जाना चाहिए कि समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशस्त रुचि दोनो अपेक्षित हैं। न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वत्ता से सम्बन्ध रखनेवाला निर्णयात्मक आलोचन (Judicial Criticism) और रुचि से सम्बन्ध रखनेवाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनो आवश्यक हैं। एक पुरुष है, दूसरी स्त्री। एक सक्रिय है; दूसरी निष्क्रिय। एक प्रतिष्ठित आदर्श को लेकर किसी काव्य की परीक्षा में प्रवृत्त होता है और उसके प्रभाव मे न आकर अपनी क्रिया में तत्पर रहता है। दूसरी उस काव्य के प्रभाव को चुपचाप ग्रहण करती हुई उसी मे मग्न हो जाती है। †

यह तो अवश्य है कि काव्य में अनुभूति या प्रभाव ही मुख्य है। पर इस अनुभूति को एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाना रहता है अतः साधनों की अपेक्षा होती है। निर्णयात्मक आलोचना इन साधनों की उपयुक्तता की इस दृष्टि से परीक्षा करती है

---

† In every age impressionism (or enjoyment) and dogmatism (or judgment) have grappled with one another. They are the two sexes of criticism, ××× —The masculine criticism, that may or may not force its own standards on literature, but that never, at all events, is dominated by the object of its studies; and the feminine criticism, that responds to the lure of art with a kind of passive ecstacy

J. E Spingarn—"The New Criticism"

कि जब साधन ही ठीक न होंगे तब साध्य सिद्ध कहाँ से हो सकता है ? प्रभावात्मक आलोचना केवल यही कहती है कि साध्य सिद्ध हो गया है। यदि एक ओर साधन के सम्बन्ध में जो रीति, लक्षण नियम आदि बने हैं उनमें पूर्णता होती और दूसरी ओर आलोचना के समय यदि हृदय लोक-सामान्य भावभूमि पर सदा पहुँच जाया करता—अपनी विशेष प्रकृति से बद्ध न रहता—तो इन दोनों प्रकार की आलोचनाओं में कोई झगड़ा न होता। पर ऐसा प्रायः होता है कि एक का निर्णय दूसरी के अनुमोदन से भिन्न पड़ता है। हृदय और बुद्धि दोनों के साथ साथ चलने से ही इन दोनों का सामंजस्य हो सकता है। सभ्य और शिक्षित समाज में निर्णयात्मक आलोचना का व्यवहार-पक्ष भी है। उसके द्वारा साधन-हीन अनधिकारियों की यदि कुछ रोक-टोक न रहे तो साहित्य-क्षेत्र कूड़ा-करकट से भर जाय।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं साहित्य के शास्त्र-पक्ष की प्रतिष्ठा काव्य-चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए; रचना के प्रतिबन्ध के लिए नहीं। इस दृष्टि से जब हम अपने साहित्य-शास्त्र को देखते हैं तब उसकी अत्यन्त व्यापक और प्रौढ़ व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ती है। शब्द-शक्ति और रसपद्धति का निरूपण तो अत्यन्त गंभीर है। उसकी तह में एक ऐसे स्वतंत्र और विशाल भारतीय समीक्षा-भवन के निर्माण की संभावना छिपी हुई है जिसके भीतर लाकर हम सारे संसार के साहित्य की आलोचना अपने ढंग पर कर सकते हैं।

कई प्रकार के साहित्यवाद—साहित्य के बाहर के 'वाद' नहीं—हमारे यहाँ भी चले हैं, जैसे रसवाद, अलंकारवाद, ध्वनि-वाद, रीतिवाद, इत्यादि। बहुत-से बालरुचिवाले चमत्कारवादी कवि भी हुए हैं, और आचार्य्य भी। नारायण पंडित ने तो यहाँ तक कह डाला है कि—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार-सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरसः॥

"जब कि रस में चमत्कार ही सार है, काव्य मे सर्वत्र अनूठापन ही अच्छा लगता है, तब सर्वत्र अद्भुतरस ही क्यो न कहा जाय?" पंडितजी ने इस बात पर ध्यान न दिया कि रस के भेद प्रस्तुत वस्तु या भाव के विचार से किए गए हैं; अप्रस्तुत या साधन के विचार से नहीं। शृंगाररस की किसी उक्ति में, उसके शब्दविन्यास आदि मे जो विचित्रता होगी वह वर्णन-प्रणाली की विचित्रता होगी, प्रस्तुत वस्तु या भाव की नहीं। अद्भुत रस के लिए स्वतः आलंबन विचित्र या आश्चर्य्यजनक होना चाहिए। शृंगार का वर्णन कौतुकी कवि लोग कभी-कभी वीररस की सामग्री अलंकार-रूप में रखकर किया करते हैं। क्या ऐसे स्थलों पर शृंगाररस न मानकर वीररस मानना चाहिए?

उक्ति-वैचित्र्य या अनूठेपन पर ज़ोर देनेवाले हमारे यहाँ भी हुए हैं और योरप मे भी आजकल बहुत ज़ोर पर हैं, जो कहते हैं कि कला या काव्य में अभिव्यंजना (Expression) ही सब कुछ है; जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह कुछ नहीं।

इस मत के प्रधान प्रवर्त्तक इटली के क्रोस (Benedetto Croce) महोदय हैं। अभिव्यंजना-वादियों (Expressionists) के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में अनावश्यक है। जैसे, वाल्मीकि-रामायण में राम की इस उक्ति मे—

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।

कवि का कथन यही वाक्य है, यह नहीं कि "जिस प्रकार वाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो।" एक और नया उदाहरण लीजिए। यदि हम पर कभी कविता करने की सनक सवार हो और हम कहें कि—

भारत के फूटे भाग्य के टुकड़ो ! जुड़ते क्यो नहीं ?

तो हमारा कहना यही होगा; यह नहीं कि "हे फूट से अलग हुए अभागे भारतवासियो ! एकता क्यों नहीं रखते ? यदि तुम एक हो जाओ तो भारत का भाग्योदय हो जाय।"

अभिव्यंजना-वादियों के काव्य-सम्बन्धी उपर्युक्त कथन में जो वास्तविक तथ्य है उसकी ओर हमारे यहाँ के आचार्य्यों ने अपने ढंग पर पूरा ध्यान दिया है। रसवादियो ने रस को और ध्वनिवादियों ने काव्यवस्तु को व्यंग्य कहा है। उनके अनुसार रस की या वस्तु की व्यंजना होनी चाहिए, अभिधा द्वारा सीधे कथन नहीं। "रस व्यंग्य होता है" यह कथन कुछ भ्रामक अवश्य है। इससे यह भ्रम होता है कि जिस भाव की व्यंजना होती है वही भाव रस है। यही बात वस्तु-व्यंजना के सम्बन्ध में भी समझिए।

"व्यंजना में अर्थात् व्यंजक वाक्य मे रस होता है" यही कहना ठीक है और यही समझा ही जाता है। केशव की यह उक्ति लीजिए—

कूर कुठार निहारि तज्यो, फल ताको यहै जो हियो जरई।
आजु ते तो कहँ, बंधु! महा धिक, छत्रिन पै जो दया करई।

यह उक्ति ही कविता है; न कि "परशुराम ने क्रोध किया", यह व्यंग्य अर्थ या अभिप्राय। व्यंजक वाक्य ही काव्य होता है; व्यंग्य भाव या वस्तु नहीं। 'व्यंग्य' शब्द के प्रयोग मे कहीं कहीं गड़बड़ी होने पर भी इस बात को सब लोग जानते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि व्यंग्य अर्थ या लक्ष्य अर्थ का कोई विचार ही नहीं होता। व्यंजक या लक्षक वाक्य का जब तक व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ के साथ सामंजस्य न होगा तब तक वह उन्मत्त प्रलाप या जान-बूझकर खड़ा किया हुआ धोखा ही होगा।

'अभिव्यंजना वाद' अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकडकर चला है; पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है। अभिव्यंजना-वाद के अनुसार ही यदि कविता बनने लगे तो उसमे विलक्षण-विलक्षण वाक्यों के ढेर के सिवा और कुछ न होना चाहिए—न विचारधारा, न भावों की रस-धारा। पर इस प्रकार की ऊटपटांग कविता योरप मे भी न बनी है, न बनती है।

योरप के समीक्षा-क्षेत्र में उठते रहनेवाले वादों के सम्बन्ध मे यह बात पक्की समझनी चाहिए कि वे एकांगदर्शी होते हैं, वे या

तो प्रतिवर्त्तन (Reaction) के रूप में अथवा प्रचलित मतो से कुछ अपनी विलक्षणता या नवीनता दिखाने की झोंक मे, ज़ोर-शोर के साथ प्रकाशित किए जाते हैं; इससे उनमें अत्युक्ति की मात्रा बहुत अधिक होती है। वे प्रायः अव्याप्ति या अतिव्याप्ति-ग्रस्त होते हैं। अपनी कसौटी पर बिना उनकी कड़ी परीक्षा किए उनका राग अलापना अन्धेपन का प्रचार करना है। 'प्रभाववाद' (Impressionism) और 'अभिव्यंजना-वाद' (Expressionism) दोनो की एकांगदर्शिता ऊपर के विवरणो से स्पष्ट है। यही स्वरूप वहाँ के और वादों का भी समझिए।

हमारे यहाँ के पुराने ध्वनिवादियों के समान आधुनिक 'अभिव्यंजनावादी' भी भाव-व्यंजना और वस्तु व्यंजना दोनो में काव्यत्व मानते हैं। उनके निकट अनूठे ढग से की हुई वस्तु-व्यंजना भी काव्य ही है। इस सम्बन्ध में हमारा यही वक्तव्य है कि अनूठी-से-अनूठी उक्ति भी काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध—कुछ दूर का सही—हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा। मान लीजिए कि अनूठे भंग्यन्तर से कथित किसी लक्षणापूर्ण उक्ति मे सौन्दर्य्य का वर्णन है। उस उक्ति मे चाहे कोई भाव सीधे-सीधे व्यंग्य न हो, पर उसकी तह मे सौन्दर्य्य को ऐसे अनूठे ढंग से कहने की प्रेरणा करनेवाला रति-भाव या प्रेम छिपा हुआ है। जिस वस्तु की सुन्दरता के वर्णन मे हम प्रवृत्त होंगे वह हमारे रति-भाव का आलम्बन होगी। आलम्बन मात्र का वर्णन भी रसात्मक माना जाता है और वास्तव मे होता है।

योरप का यह 'अभिव्यंजना-वाद' हमारे यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद'—वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है। अन्तर इतना ही है कि भंग्यन्तर के लिए हमारे यहाँ व्यंजना का अधिक सहारा लिया जाता है और योरप मे लक्षणा का। योरप की भाषाओ में लाक्षणिक चपलता अधिक होती है। अनूठेपन का काव्य में क्या स्थान है, यह बात अब विचार के लिए सामने आती है।

जगत् की नाना वस्तुओ, व्यापारों और बातों को ऐसे रूप में रखना कि वे हमारे भावचक्र के भीतर आ जायँ, यही काव्य का लक्ष्य होता है। विश्व की अनन्तता के बीच जिस प्रकार ज्ञान अपना प्रसार चाहता है, उसी प्रकार हृदय भी। वह भी अपने रमने के लिए नई-नई भूमि चाहता है। अनूठापन कहीं तो किसी भाव या मनोवृत्ति की व्यंजना में—अर्थात् जिन वाक्यों मे उस भाव की व्यंजना होती है उनमें—और कहीं उस वस्तु या तथ्य मे ही जिसकी ओर कवि अपने चित्रण-कौशल से भाव को प्रवृत्त करता है। सुबीते के लिए एक को हम भाव-पक्ष का अनूठापन कह सकते हैं; दूसरे को विभाव-पक्ष का।

अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है, एक अतिरिक्त गुण है जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। इसके बिना भी तन्मय करनेवाली कविता बराबर हुई है और होती है। पद्माकर की उस सीधी-सादी उक्ति मे—"नैन नचाय कह्यो मुसकाय, लला! फिर आइयो खेलन होरी"—पूरी रमणी-

यता है। जो लोग मनोरंजन को ही—किसी भाव में लीन होने को नहीं—काव्य का चरम लक्ष्य समझते हैं, वे सब जगह कुछ कुतूहल की सामग्री ढूँढ़ते हैं। पर काव्य केवल कुतूहल उत्पन्न करनेवाली वस्तु नहीं है; भिन्न-भिन्न भावों में लीन करनेवाली, रमानेवाली वस्तु है। अतः वही वक्रोक्ति (वक्रोक्ति अलंकार नहीं; उक्ति का वाँकपन या अनूठापन), वही वचन-भंगी जो किसी-न-किसी भाव या मनोवृत्ति द्वारा प्रेरित होगी, काव्य के अन्तर्गत होगी। ऐसी वस्तु-व्यंजना जिसकी तह मे कोई भाव न हो, चाहे कितने ही अनूठे ढंग से की गई हो, चाहे उसमे कितना ही लाक्ष-णिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्ति मात्र होगी। सारांश यह कि भाव या मनोविकार की नींव पर ही कविता की इमारत खड़ी हो सकती है। कुतूहल भी एक मनोवृत्ति है, पर वह अकेले काव्य का आधार नहीं हो सकती। तमाशा देखना और कविता सुनना एक ही वात नहीं है।

इस 'अभिव्यंजना-वाद' के प्रभाव से मूर्त्त विधान का वड़ा ही दुरुपयोग होने लगा है। अँगरेजी में तो कम, पर वँगला मे—जो हर एक विलायती ताल-सुर पर नाचने के लिए तैयार रहती है—यह वात वहुत भद्दी हद तक पहुँची। कहीं लालसा मधुपात्र लिए हृत्तन्त्री के नीरव तार झनझना रही है, कहीं स्मृति-वेदना करवटें वदलकर आँखे मल रही हैं इत्यादि-इत्यादि। इस प्रकार लड़कों के खेल से निराधार विधान वहाँ चल पड़े, जिनकी नकल हिंदी मे भी वड़ी धूम से हो रही है। 'छायावाद' समझकर जो

कविताएँ हिन्दी में लिखी जाती हैं उनमे से अधिकांश का 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनमे से कुछ तो विलायती 'अभिव्यंजना-वाद' के आदेश पर रची हुई बँगला कविताओ की नक़ल पर, और कुछ अँगरेजी कविताओ के लाक्षणिक-चमत्कारपूर्ण वाक्य शब्द-प्रति शब्द उठाकर, जोड़ी जाती हैं। इनके जोड़नेवाले यह नहीं जानते कि 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' शब्द काव्यवस्तु (Matter) का सूचक है, अतः जहाँ काव्यवस्तु मे कोई 'वाद' नहीं है, केवल व्यंजना-शैली के वैचित्र्य का अनुकरण है, वहाँ 'अभिव्यंजना-वाद' की नकल है। यह नकल—जैसे और सब नकलें—बँगला में शुरू हुई। अतः हिंदीवालों मे कुछ बेचारे तो बंग-पदावली के अवतरण से ही सन्तुष्ट रहते हैं, और कुछ—जिन्हे अँगरेजी का भी थोडा-बहुत परिचय रहता है—सीधे अँगरेज़ी से, जहाँ से बंगाली लेते हैं, लाक्षणिक पदावली उठाया करते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओ मे उस अन्विति (Unity) का सर्वथा अभाव रहता है, जिसके बिना कला की कोई कृति खड़ी ही नहीं हो सकती। इधर-उधर से बटोरे वाक्यो का एक असंश्लिष्ट और असम्बद्ध ढेर-सा लगा दिखाई पड़ता है। बात यह है कि अपनी किसी अनुभूत भावना या तथ्य की व्यंजना के लिए अपने उद्भावित वाक्य ही एक मे समन्वित हो सकते हैं।

भिन्न-भिन्न देशों की प्रवृत्ति की पहचान यदि हम काव्य के भाव और विभाव दो पक्ष करके करते हैं तो बड़ी सुगमता हो

जाती है। 'भाव' से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यंजना से है; विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयो के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है। भारतीय साहित्य मे दोनों पक्षो का सम-विधान पाया जाता है। वन, पर्वत, नदी, निर्भर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि जगत् की नाना वस्तुओं का वर्णन आलंवन और उद्दीपन दोनो की दृष्टि से होता रहा है। प्रवन्ध-काव्यों में वहुत से प्राकृतिक वर्णन आलंवन-रूप में ही हैं। कुमारसम्भव के आरंभ का हिमालय-वर्णन और मेघदूत के पूर्व मेघ का नाना प्रदेश-वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। इन वर्णनों में कवि ही आश्रय है जो प्राकृतिक वस्तुओ के प्रति अपने अनुराग के कारण उनका रूप विवृत करके अपने सामने भी रखता है और पाठकों के भी। जैसा पहले कहा जा चुका है केवल आलंवन का वर्णन भी रसात्मक होता है। नख-शिख-वर्णनों में आलंवन के रूप का ही वर्णन रहता है पर वे रसात्मक होते हैं। विभाव के समान भाव-पक्ष का भी पूरा विधान हमारे यहाँ मिलता है। उक्ति, चेष्टा और शरीर-धर्म तीनो प्रकार के अनुभावो द्वारा भावों की व्यंजना होती आई है।

फारस की शायरी भाव-पक्ष-प्रधान है। उसमे विभाव-पक्ष का विधान नहीं या नहीं के वरावर हुआ। भाव-पक्ष मे भी केवल रति-भाव का ही सम्यक् ग्रहण पाया जाता है। इसी के अलौकिक उत्कर्ष की व्यंजना अलग-अलग एक-एक पद्य की गॅठी हुई उक्ति में होती है। वेदना की विवृति की चाल फ़ारसी और उर्दू की

शायरी में बहुत अधिक है। विभाव और भाव के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न होने से—इस बात का ध्यान न होने से कि मन मे लाए हुए रूप किस प्रकार रस मे सहायक या बाधक होते हैं—वेदना की यह विवृति कभी-कभी बड़े बीभत्स दृश्य सामने लाती है। आबले फूटना, मवाद बहना, कलेजा चिड़ना, ख़ून के क़तरे टपकना, कबाब की तरह इधर-उधर भुनना—वेदना का इस प्रकार का ब्योरा शृंगार का पोषक नहीं हो सकता। खेद है कि उर्दू की देखादेखी वेदना की ऐसी विवृति की नकल हिन्दी की कविताओ मे भी कुछ-कुछ हुई है और अब भी कुछ नए ढंग पर होती है। संस्कृत के कवियो मे वेदना की विवृति भवभूति में ही सबसे अधिक पाई जाती है; पर वह भारतीय काव्य-शिष्टता की मर्य्यादा के भीतर है। वेदना की अधिक विवृति हम काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझते हैं। हमे तो वेदना का अधिक ब्योरा पढ़ने पर ऐसा ही जान पड़ता है जैसे कोई भारी रोगी किसी वैद्य के सामने अपने पेट के भीतर की शिकायतें बता रहा हो। प्रेम को व्याधि के रूप मे देखने की अपेक्षा हम संजीवनी-शक्ति के रूप में देखना अधिक पसंद करते हैं।

अश्रु, स्वेद आदि का उल्लेख हमारे काव्य में भी हुआ है, पर जमीन से आसमान तक इनकी गंदी नदी नहीं बहाई गई है। जैसे अपनी प्रकृति का, अपने शरीर धर्मों का, बहुत अधिक वर्णन बातचीत की सभ्यता के विरुद्ध समझा जाता है वैसे ही अब काव्य की शिष्टता के विरुद्ध समझा जाना चाहिए।

हम विभाग-पक्ष को कविता में प्रधान स्थान देते हैं। 'विभाव' से अभिप्राय लक्षण-ग्रंथों में गिनाए हुए भिन्न-भिन्न रसों के आलंबन मात्र से नहीं है, यह पहले सूचित किया जा चुका है। जगत् की जो वस्तुएँ, जो व्यापार या जो प्रसंग हमारे हृदय में किसी भाव का संचार कर सकें उन सबका वर्णन आलंबन का ही वर्णन माना जाना चाहिए। विश्व की अनन्तता के भीतर, मनुष्य जाति के ज्ञान प्रसार के बीच, ऐसे वस्तु-व्यापार-योग और ऐसे प्रसंग भी हमारी पहुँच के हिसाब से अनन्त ही हैं। जिस मर्मस्पर्शिणी वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या कल्पना के सहारे हमने साक्षात्कार किया हो उसे अपना प्रभाव उत्पन्न करने के लिए औरों तक ठीक ठीक पहुँचाकर यदि हम अलग हो जायँ, तो भी कवि-कर्म कर चुके। यदि लोक के मर्म-स्थलों की पहचान हममें होगी तो हमारी उपस्थित की हुई योजना सहृदय मात्र को भावमग्न करेगी। यदि उस योजना में लोक-हृदय को स्पर्श करने की क्षमता न होगी, तो भावानुभूति का हमारा सारा प्रदर्शन भाँड़ों की नकल-सा होगा। भाव-प्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें संवेदना की विवृति ही रहती है—आलंबन का आक्षेप पाठक के ऊपर छोड़ दिया जाता है। विभाव-प्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें आलंबन का ही विस्तृत रम-णीय चित्रण रहता है—संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।

अपनी अनुभूति या संवेदना का लंबा-चौड़ा ब्योरा पेश करने की अपेक्षा उन तथ्यों या वस्तुओं को पाठक की कल्पना में

ठीक-ठीक पहुँचा देना जिन्होने वह अनुभूति या संवेदना जगाई है, कवि के लिए हम अधिक आवश्यक समझते हैं। सहृदय या भावुक पाठक अपनी अनुभूति का पथ बहुत कुछ आप-से-आप निकाल लेते हैं। इसी प्रकार सच्चे कवियो की अनुभूति का आभास बहुत कुछ उनकी वस्तु-योजना की शब्दभंगी में ही मिल जाता है।

भावो के लिए आलम्बन आरम्भ मे ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावो के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरम्भ मे मनुष्य की चेतन सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप मे ही अधिकतर रही। पीछे ज्यो-ज्यो सभ्यता बढ़ती गई है त्यों त्यो मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि-व्यवसा-यात्मक होती गई है। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धिव्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारो की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा, उद्घाटित परिस्थितियो और तथ्यो के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम होगा।

ये परिस्थितियाँ बहुत ही व्यापक होगी, ये तथ्य न-जाने कितनी बातो की तह में छिपे होंगे। यदि अत्याचार होगा तो

उसका फैलाव औरंगजेब के अत्याचार का-सा न होगा; रावण के अत्याचार का सा होगा। हाहाकार होगा तो जगद्व्यापी होगा। हाय होगी तो पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक होगी; पर एक हाय करनेवाला दूसरे हाय करनेवाले से इतनी दूर पर होगा कि सम्मिलित हाय की दारुणता केवल बाहरी आँखो की पहुँच के बाहर होगी। यदि प्राणियों की किसी सामान्य प्रवृत्ति का चित्रण होगा, तो सामग्री कीटाणुओं की दुनिया तक से लाई जा सकती है। जगत् रूपी घन-चक्कर और गोरखधन्धे की महत्ता और जटिलता से चकित होने की चाह में हम अपनी अन्तर्दृष्टि के सामने एक ओर अणुओ परमाणुओं और दूसरी ओर ज्योतिष्क पिंडो के भ्रमण-चक्रों तक को ला सकते हैं।

रूखे और (बाह्य करणों को) अगोचर को सरस और गोचर-रूप में लाने का व्यवसाय काव्यक्षेत्र मे बढ़ेगा। ये गोचर रूप झूठे रूपक न होंगे; किसी तथ्य के मार्मिक मूर्त्त उदाहरण होंगे। कितने गूढ़, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में हुआ करेगा।

काव्य के सम्बन्ध में भाव और कल्पना, ये दो शब्द बराबर सुनते सुनते कभी-कभी यह जिज्ञासा होती है कि ये दोनों समकक्ष हैं या इनमें कोई प्रधान है। यह प्रश्न, या इसका उत्तर, ज़रा टेढ़ा

है, क्योकि रसकाल के भीतर इनका युगपद् अन्योन्याश्रित व्यापार होता है। रस की स्थिति श्रोता या पाठक मे मानी जाती है। अतः श्रोता या पाठक की दृष्टि से यदि विचार करते है तो उसमे सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है; कल्पना-क्रिया कम। कवि की विधायक कल्पना रस की तैयार सामग्री उसके सामने रख देती है। कवि-कर्म में कल्पना की वहुत आवश्यकता होती है; पर यह कल्पना विशेष प्रकार की होती है; इसकी क्रिया कवि की भावुकता के अनुरूप होती है। कवि अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना को रूप-विधान मे प्रवृत्त करता है। रस की प्रतीति पूर्ण व्यंजना होने पर ही, काव्य के पूर्ण हो जाने पर ही, मानी गई है; व्यंजना के पहले नही। अतः कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की जिस उमंग में रचना करने मे प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहें तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते हैं।

जब भाव की उमंग ही कल्पना को प्रेरित करती है तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है। कल्पना उसकी सहयोगिनी है। पर ऐसी सहयोगिनी है जिसके विना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनो अनिवार्य्य हैं। भावुक जब कल्पना-संपन्न और भाषा पर अधिकार रखनेवाला होता है तभी कवि होता है। पर यह भी निश्चय समझना चाहिए

कि जिस रूप मे अनुभूति कवि के हृदय मे होती है, उसी रूप मे व्यंजना कभी हो नहीं सकती। उसे प्रेपणीय वनाने के लिए—दूसरों के हृदय तक पहुँचाने के लिए—भापा का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों में ढलते ही अनुभूति वहुत विकृत हो जाती है, और क़ी और हो जाती है। इसी से वहुत सी दिव्य और सुन्दर अनुभूतियो को कवि यो ही छोड़ देते हैं, उनकी व्यंजना का प्रयास ही नहीं करते। अत्यन्त गहरी अनुभूतिवाले वहुत से भावुक तो कभी ऐसा प्रयास नहीं करते। वे जीवन भर एक प्रकार के मूक कवि वने रहते हैं। वहुत सी कविता अनुभूति-दशा मे नही होती; स्मृति-दशा मे होती है। जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सव हमारी कविता में आ गया है, उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए और उसकी कविता को कवियो की वाणी का अनुकरण मात्र।

जैसे कवि वैसे ही पाठक या श्रोता भी कभी-कभी रसप्रवण होते हैं। लोग कभी कहते हैं कि 'वीररस की कोई कविता सुनाइए", कभी कहते हैं "श्रृङ्गाररस की कोई कविता सुनाइए।" इसका मतलव यही है कि कभी उनमे उत्साह का उन्मेष रहता है, कभी प्रेम का, कभी किसी और भाव का। इस प्रकार रसोन्मुख होने पर वे अपने अन्तस् मे ऐसी वस्तु लाना चाहते हैं जिस पर भाव विशेष टिके, उस वस्तु के ऐसे विवरणो में अन्तर्दृष्टि रमाना चाहते हैं जिनसे वह भाव उद्दीप्त रहे, ऐसी उक्तियाँ सुनना चाहते हैं जो उस भाव द्वारा प्रेरित या अनुप्राणित समझ पड़ें।

"अभिव्यंजना ही कला या काव्य है" इसका अर्थ यहाँ तक कभी नहीं घसीटा जा सकता कि व्यंजना या व्यंजक उक्ति से भिन्न काव्यानुभूति कोई वस्तु ही नहीं। काव्यानुभूति ही वह प्रधान वृत्ति है जो व्यंजना की प्रेरणा करती है। बात यह है कि पाठक या श्रोता के पास कवि की अन्तर्वृत्ति तक पहुँचने का कोई अचूक साधन नहीं होता जिससे वह यह देख सके कि अनुभूति के अनुरूप व्यंजना हुई है या नहीं। इससे वह व्यंजना या उक्ति से ही प्रयोजन रखता है। पर जब हम पूरे कवि-कर्म पर विचार करते हैं—केवल उसके फल पर ही नहीं—तब उसके मूल में काव्यानुभूति की सत्ता माननी पड़ती है। यह दिव्य अनुभूति समय-समय पर थोड़ी-बहुत सबको हुआ करती है। इसका प्रधान लक्षण है अपने ख़ास सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि से उत्पन्न न होना, अपनी शरीर यात्रा से सम्बद्ध न होना। प्रेमियो के प्रेम-व्यापार, दुखियों के दुःख, अत्याचारियों की क्रूरता देख-सुनकर जो रति, करुणा और क्रोध जाग्रत होता है; छूटे हुए स्वदेश की, अतीत काल के दृश्यो की जो प्रीतिस्निग्ध स्मृति जाग्रत होती है, लोक-रक्षक और लोकरंजक महात्माओ के प्रति जिस श्रद्धा-भक्ति का उदय होता है, उन सबकी अनुभूति शुद्ध भावक्षेत्र की अनुभूति है। जब तक इस प्रकार की अनुभूति में कोई लीन रहे, तब तक उसपर अव्यक्त काव्य का आवेश समझना चाहिए।

रसानुभूति या काव्यानुभूति की उपर्युक्त विशेषता के कारण उसे लोकोत्तर, जीवन से परे आदि कहने की चाल चल पड़ी है।

पर वास्तव में वह जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नहीं है। (इसी प्रकार कविता और कवि की स्तुति मे जो बहुत से अलंकारपूर्ण वाक्य इधर कुछ दिनो से कहे, सुने और लिखे जाने लगे हैं, उन्होंने अर्थशून्य शब्दो का एक ऐसा झूठा परदा खड़ा कर दिया है जिसके कारण काव्यभूमि बहुत कुछ अन्धकार में पड़ती जाती है। कविता स्वर्ग से गिरती हुई सुधाधारा है, नन्दनवन के कुसुमो से टपकी मकरंद की बूंद है; अनन्त के दिव्य संगीत की स्वर-लहरी है, कवि इस लोक का जीव ही नहीं है, वह पार्थिव जीवन से परे है, उसका एक दूसरा ही जगत् है; वह पैग़म्बर है, औलिया है, रहस्यदर्शी है—ऐसी-ऐसी लचर बाते काव्य-समीक्षा के नाम से कही जाने लगी हैं।) बुद्धि को रुग्ण करनेवाली, पाषण्ड का प्रचार करनेवाली, यह हवा अँगरेज़ी से बँगला में और बँगला से हिन्दी मे आई है। आज-कल मासिक-पत्रिकाओं में किसी कवि या काव्य की समीक्षा के वेश मे कभी-कभी बहुत-सी ऐसी अर्थशून्य पदावली—जो अँगरेजी या बँगला से उठाई हुई होती है—छपा करती है। निरर्थक इस शब्दों की आँधी से ऊबकर एक सूक्ष्मदर्शी अँगरेज़ समालोचक को यहाँ तक कहना पड़ा है कि "भाषा अभी तक उन सब वस्तुओ के स्वरूप को छिपाने ही में कृतकार्य हुई है जिनकी हम चर्चा किया करते हैं।"*

---

* Language has succeeded until recently, in hiding from us almost all the things we talk about.

—I. A. Richards: Principles of Literary Criticism

कविता के सम्बन्ध मे कई प्रवाद जो कुछ दिनों से योरप में प्रचलित चले आ रहे हैं, उनकी नक़ल हिन्दी मे भी इधर-उधर सुनाई पड़ने लगी है। इन प्रवादो मे एक यह भी है कि "कला का उद्देश्य कला ही है" या "काव्य का उद्देश्य काव्य ही है"। इस उक्ति के अनुसार कविता का क्षेत्र जीवनक्षेत्र से बिल्कुल अलग है। कविता का विचार करते समय जीवन की बातो को तो लाना ही न चाहिए। कला की कृति का मूल्य निर्द्धारित करने मे बाहरी बातो के मूल्य का विचार व्यर्थ है।† कला का तो अपना मूल्य अलग ही है। कला-सम्बन्धी यह वाद सन् १८६६ ईसवी से फ्रांस मे चला। साहित्य-समीक्षा के नये-नये वाद फ्रांस ही में सबसे अधिक उठा किए हैं। इस क्षेत्र में वही एक प्रकार योरप का गुरु रहा है। अँगरज़ी मे उपर्युक्त मत का बहुत स्पष्ट प्रतिपादन डाक्टर ब्रैडले (Dr Bradley) ने अपनी पुस्तक (Oxford Lectures on Poetry) मे किया है। हर्ष की बात है कि इस मत का, तथा इसी प्रकार के और प्रचलित प्रवादो का, निराकरण रिचर्डस् (I. A. Richards) ने अपने "काव्य-समीक्षा के सिद्धान्त" मे बहुत अच्छी तरह कर दिया

---

† To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions.

—Clive Bell: "Art"

है * जो काव्यों का अनुशीलन और जनता पर उनके प्रभाव का अन्वीक्षण करते आ रहे हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि कविता-जीवन ही से उत्पन्न है और जीवन के भीतर ही अपनी विभूति का प्रकाश करती है। उसे जीवन से विच्छिन्न बताना कहीं की बात कहाँ लगाना है।

हम कह चुके हैं कि योरप में जो साहित्यिक वाद या प्रवाद चलते हैं उनमें से अधिकतर प्रतिवाद की धुन में अर्थात् प्रतिवर्त्तन (Reaction) के रूप में उठते हैं। सबमें कोई स्थायी मूल्य या तत्त्व नहीं होता; होता भी है तो बहुत थोड़ा। इसी से बहुत से 'वाद', जिनका कुछ दिनों तक फैशन रहता है, आगे चलकर हवा हो जाते हैं। विज्ञान के वादों मे जिस ईमानदारी और सचाई से काम लिया जाता है, साहित्यिक वादों में नहीं। साहित्य के क्षेत्र में हरएक अपनी अलग हवा बहाने के फेर में रहता है और ज़रा-सा बढ़ावा पाने पर किसी एक बात को लेकर हद से बहुत दूर निकल जाता है। "कला का उद्देश्य कला है" इस वाद का प्रचार भी फ्रांस में प्रतिवर्त्तन के रूप में ही हुआ था। काव्य की पुरानी बँधी रूढ़ियों को हटाकर, केवल मुक्त कल्पना और भावो की अप्रतिबद्ध गति को लेकर योरप मे स्वच्छन्दता-वाद (Romanticism का प्रचार हुआ। वह जब हद के बाहर जाने लगा और काव्य के विषय ऊटपटांग तथा वर्णनशैली

---

* इस मत के विशेष विवरण और खण्डन के लिए देखिए हमारा "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" (पुस्तकाकार संस्करण)।

शिथिल और अशक्त होने लगी तब सन् १८६६ ई० मे उसके प्रतिवाद के रूप में "कला का उद्देश्य कला" का सिद्धान्त लेकर कुछ लोग खड़े हुए। ये लोग पारनेसियन (Par ıass e ıs) कहलाए। इनका उद्देश्य काव्य मे अधिक समीचीन प्रेरणा, सुडौल योजना और चित्ताकर्पक शैली का प्रचार करना था।

इन पारनेसियनो के पीछे सन् १८८५ ई० में "प्रतीकवादियो" (S\ mo ılısts or Decad· u ˜) का एक सम्प्रदाय फ्रांस में खड़ा हुआ जिसने अनूठे 'रहस्यवाद' और 'भावोन्मादमयी भक्ति' का सहारा लिया। * हमारे यहाँ के श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'गीतांजलि' का अँगरेज़ी अनुवाद प्रकाशित करके इसी सम्प्रदाय के सुर-मे-सुर मिलाया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि वंगभाषा के प्रसाद से हिन्दी में इस वर्ग की प्रवृत्ति का अनुकरण खूब चल पड़ा है। बंगभाषा के काव्यक्षेत्र के तो एक कोने ही मे इस रहस्यवाद या छायावाद की तन्त्री बजी ; मराठी, गुजराती को हरएक विलायती ताल-सुर नाचने की आदत नही ; पर हिन्दी में तो इसकी नकल का तूफान-सा आ गया।

यह 'प्रतीकवाद' सिद्धान्तरूप में यद्यपि आध्यात्मिक 'रहस्य-

---

* Following upon the Parnassiens, about 1885, came the Symbolists or Decadents—a movement of dexterous mysticism and 'sentimental religiosity', too recent for satisfactory historical investigation.

—Gayley & kurtz Methods and Materials of Literary Criticism.

वाद' के साथ सम्बद्ध होकर उठा है, पर प्रतीक-रूप मे वस्तुओं का व्यवहार अच्छी कविता में बराबर होता आया है। * किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन में आ जाती है उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकारो या भावनाओं को जाग्रत कर देती हैं। जैसे, 'कमल' माधुर्य्यपूर्ण कोमल सौन्दर्य्य की भावना जाग्रत करता है; 'कुमुदिनी' शुभ्र हास की, 'चंद्र' मृदुल आभा की; 'समुद्र' प्राचुर्य्य, विस्तार और गम्भीरता की, 'आकाश' सूक्ष्मता और अनन्तता की। इसी प्रकार 'सर्प' से क्रूरता और कुटिलता का, 'अग्नि' से तेज और क्रोध का, 'वीणा' से वाणी या विद्या का, 'चातक' से निःस्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता है। प्रतीक दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो मनोविकारो या भावों को जगाते हैं (Emotional Symbols) और कुछ भावनाओं या विचारो को (Intellectual Symbols)। भावना या कल्पना जगानेवाले प्रतीको के साथ भाव या मनोविकार भी प्रायः लगे रहते हैं।

ऊपर जिन प्रतीकों के नाम आए हैं वे सब ऐसे हैं जिनके स्वरूप मे ही कुछ-न कुछ व्यंजना है। पर उनमे इतनी अधिक

---

* Symbolism, as seen in the writers of our day, would have no value if it were not seen also, under one guise or another, in every great imaginative writer.

—Arthur Symons "The Symbolist Movement in Literature"

शक्ति के संचय का कारण यह भी है कि वे कई सहस्र वर्षों से कम-से-कम भारतीय जनता की कल्पना के अंग और भावों के विषय रहते आए हैं। वे परम्परागत प्रतीक हैं। काव्य में ऐसे ही प्रतीकों का व्यवहार होता आया है और हो सकता है। यह तो प्रत्यक्ष है कि थोड़े से ही प्रतीक सार्वभौम हो सकते हैं। भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। 'गुल-बुलबुल' से जिस भावना का संकेत फारसवाले को मिलता है उस भावना का संकेत भारतवासी को नहीं; 'चातक' से जिस भावना का संकेत भारतवासी को मिलता है उस भावना का संकेत योरपीय को नहीं। क्रूस (Cross) से जैसी पवित्रता और स्वर्गीय शान्ति का संकेत एक ईसाई को मिलेगा, हिन्दू या बौद्ध को नहीं। प्रकृति के नाना रूपों को भी भिन्न-भिन्न देशों ने भिन्न भिन्न भावों से देखा है। सघन वन, पर्वत आदि भारतीय या योरपीय हृदय को चाहे रमावें पर फारसी दृष्टिवाले को वे कष्ट या विपत्ति ही के सूचक होंगे। अधिकतर कुहरे और बदली से आच्छन्न रहनेवाले योरप मे 'चमचमाती धूप' आनन्द और सुख-समृद्धि का संकेत हो, पर भारत के लिए नहीं हो सकती। 'स्निग्ध श्यामल घटा' में जो उदार और शीतल माधुर्य्य भारतीय देखता है, योरपीय नहीं। जाड़े की संध्या कुछ मनहूस और उदासी लिए होती है; इसमे विलायतवाले उसे शोक और उदासी का प्रतीक मानें तो ठीक है। पर हिन्दुस्तान में जाड़ा बहुत थोड़े दिनो रहता है। यहाँ तो दिन की आँख तिलमिलाने-

वाली चमक के पीछे संध्या की मधुर आभा मृदुलता का संकेत करती है। हाँ! 'अन्धकार' या 'अँधेरी रात' शोक और उदासी का प्रतीक अवश्य मानी जाती है। जायसी ने रत्नसेन के परलोकवास पर अँधेरी रात ही ली है—

सूरुज छपा, रैनि होइ गई। पूनिउँ ससि सो अमावस भई।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्य में बहुत कुछ अलंकार-प्रणाली के भीतर ही हुआ है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के उपमान और प्रतीक एक ही वस्तु हैं। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते। पर जो प्रतीक भी होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं। अलंकारो में कभी-कभी किसी एक विषय के सादृश्य या साधर्म्य के विचार से ही बहुत से उपमान ऐसे रख दिए जाते हैं जिनमें कुछ भी प्रतीकत्व नहीं होता—जैसे कटि की उपमा के लिए सिंह या भिड़ की कमर। ऐसे उपमानो से हम सच्चे काव्य की कुछ भी सिद्धि नहीं मानते। किसी वस्तु के मेल में उपमान खड़ा करने का उद्देश्य यही होता है कि उस वस्तु के सौन्दर्य्य आदि की जो भावना हो उसे और उत्कर्ष प्राप्त हो। अतः सच्ची परखवाले कवि अप्रस्तुत या उपमान के रूप में जो वस्तुएँ लाते हैं उनमें प्रतीकत्व होता है। हंस, चातक, मेघ, सागर, दीपक,

पतंग इत्यादि कुछ विशेष वस्तुओं पर अन्योक्तियाँ क्यो इतनी मर्मस्पर्शिणी हुई हैं? इसलिए कि उनमें प्रतीकत्व है। उनके नाम मात्र हमारे हृदय मे कुछ बँधी हुई भावनाओ का उद्बोधन करते हैं। इसी प्रकार फारसी की शायरी मे गुल बुलबुल, शमः परवानः, शराब प्याला आदि सिद्ध प्रतीक हैं।

यहाँ तक तो काव्य मे प्रतीको के सर्व-सम्मत सामान्य व्यवहार का उल्लेख हुआ। पर यह कायदे की बात है कि जब कोई बात 'वाद' के रूप मे किसी सम्प्रदाय विशेष के भीतर ग्रहण की जाती है तब वह बहुत दूर तक घसीटी जाती है—इतनी दूर तक कि वह सबके काम की नहीं रह जाती—और उसे कुछ विलक्षणता प्रदान की जाती है। रहस्यवाद को लेकर जो 'प्रतीक-वादी' सम्प्रदाय योरप में खड़ा हुआ उसने परोक्षवाद (Occulti-sm) का सहारा लिया। प्रतीक के रूप मे गृहीत वस्तुओं मे भावों के उद्बोधन की शक्ति कैसे संचित हुई इसका वैज्ञानिक उत्तर यही होगा कि कुछ तो उन वस्तुओं के स्वरूपगत आकर्षण से, कुछ चिर परिचित आरोप के बल से और कुछ वंशानुगत वासना की दीर्घ-परंपरा के प्रभाव से। पर रहस्यवादी इसका उत्तर दूसरे ढंग से देंगे।

वे कहेंगे कि "हमारे मन का विस्तार घटता बढ़ता रहता है और कभी-कभी कई एक मन संचरित होकर एक दूसरे में मिल जाते हैं और इस प्रकार एक मन या एक शक्ति का उद्घाटन करते है। हमारी स्मृति का विस्तार भी ऐसे ही घटता बढ़ता

रहता है और उस महास्मृति का, प्रकृति की स्मृति का, एक अंग है। इस महा मन और महा स्मृति का आह्वान प्रतीकों द्वारा उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार तांत्रिकों के विविध चक्रों या यन्त्रों द्वारा देवताओं का"।* इस प्रवृत्ति के अनुसार वे रचना में प्रवृत्त करनेवाली कवियों की प्रतिभा के जगने को वही दशा कहते हैं जिसे सूफी 'हाल आना' कहते हैं, जिसमें कुछ घड़ियों के लिए कवि की अन्तःसत्ता ईश्वरीय सारःसत्ता (Divine Essence) में मिल जाती है।

इस धारणा के अनुसार काव्य का लक्ष्य इस जगत् और जीवन से अलग हो जाता है। प्रकृति के जिन रूपों और व्यापारों का कवि सन्निवेश करेगा वे 'प्रतीक' मात्र होंगे। कवि की दृष्टि वास्तव में उन प्रतीकों के प्रति न मानी जाकर उन अज्ञात और परोक्ष शक्तियों या सत्ताओं के प्रति मानी जायगी जिनके वे प्रतीक होंगे। यदि वे प्रकृति का वर्णन करें तो उनका अनुराग

---

(1) *That the borders of our mind are ever shifting, and that many minds can flow into one another, as it were, and create and reveal a single mind, a single energy

(2) That the borders of our memories are as shifting, and that our memories are a part of one great memory the memory of Nature herself

(3) That this great mind and great memory can be evoked by symbols

—W B Yeats: "Ideas of Good and Evil"

प्रकृति पर न समझना चाहिए; प्रकृति के नाना रूपों के परदे के भीतर छिपी हुई अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति समझना चाहिए। वे भरसक इस बात का प्रदर्शन करेंगे कि उनके भावोद्गार और उनके वर्णन व्यक्त और पार्थिव के सम्बन्ध में नहीं हैं, अव्यक्त और अपार्थिव के सम्बन्ध में हैं। समझनेवाले चाहे जो समझें। यदि कोई बाबाजी किसी रमणी के प्रेम में उसके रूप-माधुर्य्य आदि का बड़े अनूठेपन के साथ वर्णन करके कहें कि "मेरा प्रेम उसके व्यक्त भौतिक शरीर से—उसकी रूप-रेखा, वर्ण, चेष्टा आदि से—नहीं है, बल्कि उस भौतिक शरीर के भीतर छिपी अव्यक्त आत्मसत्ता से है, जो नित्य अनन्त और सर्वव्यापक है," तो कह सकते हैं। पर कहाँ तक लोग ऐसा समझेंगे, यह बात दूसरी है। हाफ़िज के शराब और प्याले को सूफ़ी चाहे जो कहें, पर बहुत से पहुँचे हुए विद्वान् उन्हें शराब और प्याला ही मानते हैं।

बात यह है कि हृदय का कोई भाव यदि व्यंजित किया जायगा तो वह ज्ञात को ही लेकर होगा और गोचर के ही प्रति होगा। मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि 'भाव' (Emotion) के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो उसके अन्तर्गत ज्ञानात्मक अवयव का विशिष्ट विन्यास पाया जायगा। उसके बिना भाव का स्वरूप ही न पूर्ण होगा। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है, पर ईश्वर-भक्ति बराबर होती आई है और उसकी सचाई मे कोई सन्देह नहीं हुआ है, तो इसका उत्तर यह है कि

ईश्वर को ज्ञेय बनाकर ही उसकी उपासना और भक्ति का आरम्भ हुआ है। ईश्वर को प्रेमपूर्ण, दयालु पिता या स्वामी के रूप में अन्त:करण के सामने रखकर ही प्रेम या भक्ति का चरम आलम्बन मनुष्य-जाति ने खड़ा किया है। रही मूर्त्त भावना, वह भी इतने गुणों का आरोप हो जाने के कारण प्रेमानुभूति के समय भक्त के मन में कुछ-न-कुछ हो ही जाती है। तात्पर्य्य यह कि भाव के पूर्ण परिपाक के लिए आलम्बन की निर्दिष्ट भावना आवश्यक है।

अभिव्यक्ति को ही काव्यदृष्टि के भीतर माननेवाले विशुद्ध कवि और साम्प्रदायिक या रहस्यवादी कवि की मनोवृत्ति में यही भेद है कि एक बड़ी सचाई के साथ जिस पर उसका भाव टिका होगा उसे स्वीकार करेगा और दूसरा उसे स्वीकार न करके, इधर-उधर ताक-झाँक करेगा। वह वेदान्तियों के 'प्रतिबिम्ब-वाद' का सहारा लेकर कहेगा कि ये सब रूप तो छाया हैं; हम जो प्रेम प्रकट करते हैं उसे इस छाया पर न समझो, जिसकी यह छाया है उस पर समझो। शायद वह यह दृष्टान्त भी दे कि जैसे पूर्वराग में चित्र देखकर ही अनुराग उत्पन्न होता है, पर उस चित्र के प्रति जो अनुराग प्रकट किया जाता है वह उस चित्र के प्रति न होकर, जिसका वह चित्र होता है उसके प्रति होता है। पर पूर्व-राग में जो अभि-लाप होता है वह इस बात का होता है कि जिसे हम चित्र आदि छाया के रूप में देखते हैं उसे पूर्ण गोचर रूप में—दर्शन, श्रवण, स्पर्श आदि सबके विषय के रूप में—देखें। पर रहस्यवादी पूर्ण

गोचर को सामने पा कर अगोचर, अभौतिक आदि की ओर अपना अभिलाष बताता है, जो अभिलाप के वास्तव-स्वरूप के सर्वथा विरुद्ध है। जिस प्रकार पूर्वराग मे आलम्बन अज्ञात नहीं रहता, चित्र आदि द्वारा अंशतः ज्ञात रहता है, उसी प्रकार जिसे रहस्यवादी अज्ञात कहता है वह भी, छाया या प्रतिबिम्ब के द्वारा सही, अंशतः ज्ञात रहता है। पर यदि रहस्यवादी 'अज्ञात', 'अगोचर', 'अभौतिक' का नाम न ले तो उसका 'वाद' कहीं नही रह जाता, जो उसे इतना प्रिय है। इस अज्ञात या अभौतिक के कारण उसे अपनी रचना में आडम्बर खड़ा करना पड़ता है, बात-बात में असीम-ससीम का राग अलापना पड़ता है।

अनिर्दिष्ट और धुँधली झलक या भावना में भी एक विशेप प्रकार का आकर्षण होता है जो स्निग्ध विस्मय, औत्सुक्य या अभिलाष उत्पन्न करता है। घने कुहरे या जाली के बीच किसी के रूपमाधुर्य्य की हलकी-सी झलक मात्र पाकर हम केवल उत्सुक होंगे। इसी औत्सुक्य की सतत प्रेरणा से उसका रूप निर्दिष्ट करने के लिए हमारी कल्पना प्रवृत्त रहा करेगी। रहस्यवादी अपनी यही स्थिति बतलाते हैं। वे भी प्रकृति के क्षेत्र से कुछ रूपों को चुनकर उनकी विलक्षण और दूरारूढ़ योजना कल्पना के भीतर करते हैं। अपना यह प्रयत्न वे 'अज्ञात के औत्सुक्य' द्वारा प्रेरित बताते हैं। यहीं तक कहकर रह जाते तो ज्याद: खटकने की बात न थी। इसके आगे बढ़कर वे यह भी सूचित करते हैं कि अपनी दूरारूढ़ रूपयोजना या भावना में वे अगोचर और

अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार करते हैं। कुहरे या जाली के बीच में किसी के रूपमाधुर्य्य की हलकी झलक पानेवाला पीछे अपने मन में उसके रूप की जो तरह-तरह की कल्पना किया करता है, उसे उसी का रूप न समझता है, न कहता है। यदि कल्पना मे आया हुआ रूप ही बिम्ब या पारमार्थिक वस्तु है तब तो कल्पनात्मक रूप ही आलम्बन ठहरे। सारा अभिलाष, सारा औत्सुक्य उन्हीं के लिए समझना चाहिए।

कल्पनात्मक रूपों के इसी आलंबनत्व की प्रतिष्ठा करके साम्प्रदायिक 'रहस्यवाद' काव्यक्षेत्र मे खड़ा हुआ। इंग्लैंड के पूर्ववर्त्ती रहस्यवादी कवि ब्लेक (William Blake 1757—1827) ने कल्पना का बड़े ज़ोर से पल्ला पकड़ा और उसे नित्य पारमार्थिक सत्ता के रूप मे ग्रहण करके कहा—

"कल्पना का लोक नित्य लोक है। वह शाश्वत और अनन्त है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ हैं जिन्हें हम प्रकृति-रूपी दर्पण मे प्रतिबिंबित देखते हैं।"*

इस प्रकार ब्लेक ने भक्तिरस में दृश्य जगत् की रूप-योजना को आलंबन न कहकर, कल्पना-जगत् की रूप योजना को आलंबन

---

* "The world of imagination is the world of Eternity ... .The world of imagination is infinite and eternal, whereas the world of generation or vegetation is finite and temporal There exist in that eternal world realities of everything which we see reflected in the vegetable glass of nature"

कहा। इस युक्ति से एक बड़ी भारी मजहबी रुकावट दूर हुई। इधर कविता प्रकृति के क्षेत्र से नाना रूप-रंग और मूर्त्त पदार्थ लिए बिना एक क़दम आगे बढ़ने को तैयार नहीं। उधर मजहब काग़ज़ी आँखें निकाले काले अक्षरो से घूर रहा था कि 'ख़बरदार! स्थूल इन्द्रियार्थों के प्रलोभन में न पड़ना। मूर्त्त पूजा का पाप मन मे न लाना।' ब्लेक को कल्पना मे वस्तुओ का सूक्ष्म रूप (यहाँ के पुराने लोगो के 'लिंग-शरीर' के समान) मिल गया। स्थूलता के दोष का परिहार हो गया। मन भी छठी इन्द्रिय है, यह भावना स्पष्ट न होने से इन्द्रियासक्ति (Sensualism) के दोपारोपण की संभावना भी दूर हुई समझी गई। भक्त कवियों को नाना मनोहर रूपो के प्रति अनुराग प्रकट करने का लाइसेंस मिल गया। पूछताछ होने पर वे कह सकते थे कि 'वाह! हम तो छाया के प्रेम द्वारा सारसत्ता का प्रेम प्रकट कर रहे हैं।' एक हिसाब से बड़ा भारी काम हुआ। पर ख़ुदा का कौनसा ऐसा काम है जिसमे शैतान न कूदे? कल्पना मे ईश्वरीय सार-सत्ता के समान ही शैतानी सार-सत्ता का आना जाना भी रहता ही है। अपने सूक्ष्म-रूप के कारण दोनो नित्य ही होगी।

यह सब जाने दीजिए। यह देखिए कि कल्पना की नित्यता के प्रतिपादन मे, उसे पारमार्थिक सत्ता बनाने में, प्रकृति और कल्पना के प्रत्यक्ष सम्बन्ध में कितना विपर्य्यय करना पड़ा है। यह तो प्रत्यक्ष बात है कि कल्पना के भीतर जो कुछ रहता है या आता है वह प्रकृति के ही विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है। अतः

जब तक हम किसी 'वाद' का सहारा न लें तब तक यही कहेंगे कि कल्पना में आए हुए रूप ही प्रकृति के नाना रूपों के प्रतिबिंब हैं; प्रकृति के रूप कल्पना के प्रतिबिंब नहीं। इस 'कल्पना-वाद' का कोई आभास न तो वेदांत के प्रतिबिंब-वाद में है, न कांट से लेकर हेगल तक जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' (Idealism) में। 'प्रत्ययवाद' इस दृश्य गोचर जगत को ही प्रत्यय या भावना (Ide) कहता है। यह 'कल्पनावाद' वास्तव में सूफियों के यहाँ से गया है, यह हम आगे चलकर दिखाएँगे।

सूफियों के कल्पनावाद की गंध पाकर ब्लेक ने, कुछ-कुछ बर्कले (Berkely) के इशारे पर, 'परम आत्मा' के समान दृश्य जगत् से परे 'परम कल्पना' का प्रतिपादन किया और मनुष्य-कल्पना को उस 'परम कल्पना' का अंग या अशलब्धि माना, प्रकृति के नाना रूप जिसकी छाया हैं। कल्पना को उसने इलहाम बनाया और कवियों को ख़ासे पैगंबर। इस प्रकार उसने काव्य के परम पुनीत क्षेत्र मे पाषंड का रास्ता-सा खोल दिया।

साहित्य-पक्ष भी कुछ देखना चाहिए। रचना के समय कवि के हृदय में कल्पना के रूप में आलंबन आदि रहते या आते ही हैं। जब कि यही काल्पनिक रूप ही वस्तुओं की सार-सत्ता है, ब्रह्म का रूप है, तब अभिलाष की जगह कहाँ रही? अभिलाष तो साक्षात्कार की इच्छा है। वह साक्षात्कार हो ही जाता है। प्रकृति के क्षेत्र में जिसकी हम छाया मात्र देखते हैं उसे हम कल्पना में मूल-रूप मे देख ही लेते हैं। भली-बुरी किसी प्रकार

की कल्पना मन मे आई कि ईश्वर का दर्शन हुआ। इस प्रकार रहस्यवादी कवि के लिए वियोगपक्ष—जिसकी इतनी दूरारूढ़ व्यंजना हुआ करती है—रह ही न गया।

अब संयोग-पक्ष मे व्यंजित भावो की सचाई की परीक्षा कीजिए। यह हम बार-बार कह चुके हैं कि कल्पना मे आए हुए रूप प्रकृति ही के हैं, बाहर ही के हैं और गोचर हैं। कल्पना की सारी रूप-सामग्री बाह्य जगत् की ही होती है। कल्पना उसकी केवल तरह-तरह की योजना किया करती है। प्रकृति के बाहरी रूप-रंग आदि हमें मुग्ध कर चुके रहते है तभी उनकी काल्पनिक योजना में हमारी वृत्ति रमती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही एक घर में बन्द रखा जाय, तो उसकी कल्पना मे दीवारों और खम्भों के सिवा और कुछ नहीं आ सकता। इससे सिद्ध है कि हमारे भाव वास्तव मे बाह्य प्रकृति के गोचर रूपो ही के प्रति होते हैं, इसी लिए कल्पना मे उनकी छाया भी हमें भाव-मग्न करती है। हमारे हृदय का सीधा लगाव बाह्य प्रकृति के गोचर रूपो से ही होता है।

इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो रहस्यवादी जो कुछ सुन्दर, रमणीय और भव्य रूप-योजना करेगा वह वास्तव में या तो बाह्य प्रकृति के प्रेम द्वारा प्रेरित होगी अथवा प्रेम द्वारा प्रेरित ही न होगी। पर उसमें इस बात को स्वीकार करने का साहस ही नहीं होता। इससे पाठक के मन मे वह यह झूठी प्रतीति उत्पन्न करना चाहेगा कि उसके भाव इन छायात्मक रूपो के प्रति बिल्कुल नहीं

हैं; इनके परे जो अगोचर और अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता है उसके प्रति हैं। वह यह कहकर ही रह जाता तब तो कला के क्षेत्र में वैसी गड़बड़ी न होती। पर यह प्रतीति उत्पन्न करने के लिए वह अपनी रचना का स्वरूप भी कुछ विशेष प्रकार का रखेगा। उसमें कुछ अलौकिकता, अस्वाभाविकता, देश-काल का अतिक्रम, अनुभूति की विचित्रता—जो बिल्कुल झूठी होगी—लाने का भरपूर प्रयत्न करेगा। बातचीत में वह इस प्रयत्न तक को अस्वीकार करेगा, कहेगा कि सब भावना इसी रूप में परोक्ष जगत् से आकर मेरे हृदय में जबरदस्ती घुस गई हैं। पर वास्तव में इसकी प्रतीति उत्पन्न करने के लिए भी कि भावना इसी रूप मे एकबारगी आई है, उसे पूरा श्रम करना पड़ता है, जैसा कि घोर रहस्यवादी कवि ईट्स (Yeats) तक ने कहा है।*

हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत् से है। इसी बात के आधार पर सारे संसार में रस-पद्धति चली है और सच्चे स्वाभाविक रूप में चल सकती है। मजहबी सुबीते के लिए अनुभूति के स्वाभाविक क्रम का विपर्य्यय करने से—मूल आलम्बनों को

---

* I Said "A line will take us hours may be,
Yet if it does not seem a moment's thought,
Our stitching and unstitching has been naught.

ईट्स ने इस बात का खंडन ज़ोर के साथ किया है कि कवियों में भावना एकबारगी आती जाती है और वे लिखते जाते हैं। स्वय ईट्स अपनी कविताओं की बहुत काट छाँट किया करते हैं। यहाँ तक कि दूसरे संस्करण में उनकी बहुत-सी कविताएँ बदली हुई मिलती हैं।

छाया और छाया को मूल आलम्बन बनाने से—कला के क्षेत्र में कितना आडम्बर खड़ा हुआ है, इसका कुछ अन्दाज़ा ऊपर के ब्योरे से लग सकता है।

कल्पना की यह लोकोत्तर व्याख्या ब्लेक की अपनी उपज नहीं थी, यह हम पहले कह आए है। यह उसने सूफियों से ज्यों की त्यों ली थी। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने सूफियों के सिद्धान्त पर जो एक छोटी सी पुस्तक (रिसाल-ए-हकनुमा) संकलित की थी उसमे साफ़ यही बात लिखी है। देखिए—

"दृश्य जगत् में जो नाना रूप दिखाई पड़ते हैं वे तो अनित्य हैं, पर उन रूपो की जो भावनाएँ या कल्पनाएँ होती हैं, वे अनित्य नहीं हैं। वे कल्पना-चित्र नित्य हैं। इसी कल्पनारूपी चित्र-जगत् (आलमे मिसाल) से हम आत्म जगत् को जान सकते हैं जिसे 'आलमे ग़ैब' और 'आलमे ख़्वाब' भी कहते हैं। आँख मूँदने पर किसी वस्तु का जो रूप दिखाई पड़ता है वही उस वस्तु की आत्मा या सार-सत्ता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की आत्मा उन्हीं रूपो की है जो रूप बाहर दिखाई पड़ते हैं। भेद इतना ही है कि अपनी सार-सत्ता में स्थित रूप पिंड या शरीर से मुक्त होते हैं। सारांश यह कि आत्मा और बाह्य रूपो का बिंब-प्रतिबिंब संबंध है। स्वप्न की अवस्था में आत्मा का यही सूक्ष्म रूप दिखाई पड़ता है। उस अवस्था में आँख, कान, नाक आदि सबकी वृत्तियाँ रहती हैं, पर स्थूल रूप नहीं रहते।"

ब्लेक ने पैगंबरी झोंक में रहस्यवाद की बहुत सी कविताएँ लिखीं जिनमें 'येरुशलम' मुख्य है। इसके सम्बन्ध में उसने लिखा-"इसके रचयिता तो नित्य लोक में हैं, मैं तो केवल सेक्रेटरी या खास-कलम हूँ। मैं इसे संसार का सबसे भव्य काव्य समझता हूँ।" पर दुनिया की राय इससे उलटी हुई और वही राय ठीक ठहरी। ब्लेक की और कविताएँ अच्छी हुई: पर रहस्यवाद की रचनाएँ निकम्मी ठहराई गई।*

ब्लेक के ५८ वर्ष पीछे सन् १८८५ में जो नया 'प्रतीक-रहस्यवाद' उठा उसकी प्रवृत्ति भी प्रायः यही चली आती है। कल्पना को एक प्रकार का इलहाम कहना, एक की कल्पना का दूसरे के अन्तःकरण में अज्ञात रूप से प्रवेश बताना, बैठे-बैठे अन्य देश और अन्य काल की घटनाएँ देखना, असीम-ससीम का राग अलापना, ये सब बातें आजकल के रहस्यवादी कवि ईट्स (W. B. Yeats) की पुस्तक (Ideas of Good and Evil) में मौजूद हैं। यह साम्प्रदायिक प्रवृत्ति कहाँ तक

---

* Of this, he said, he was merely the secretary; "the authors are in Eternity I consider it the grandest poem this world contains" Unfortunately the world's opinion was radically different, and its opinion was entirely correct The mystic writings which form so large a part of Blake's output were valueless.

—A. B De Mille: "Literature in the Century," (The Ninteenth Century Series)

शुद्ध काव्यदृष्टि प्रदान करने मे सहायक हो सकती है, विचारने की बात है।

यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न रहस्यवादी कवियो की दृष्टि में थोड़ा-बहुत भेद रहता है, कुछ कवि 'लोकवाद' भी लिए रहते हैं, पर यह भी उतना ही ठीक है कि सब इस दृश्य और गोचर जगत् से परे एक अभौतिक जगत् की ओर झाँकने का दावा करते हैं। इस सम्प्रदाय के वर्त्तमान कवियों मे एक मिस मकाले (Rose Macaulay) हैं जिन्होंने सन् १९१४ ई० में "दो अन्ध देश" (The Two Blind Countries) नाम की एक छोटी-सी पुस्तक में अपनी कविताओं का संग्रह निकाला है। इसमें उन्होंने नाना सुन्दर रूपो और व्यापारों से जगमगाते हुए इस भौतिक जगत् का बड़ी सहृदयता से निरीक्षण किया है, पर इसे चारो ओर वेष्ठित किए हुए एक दूसरा मडल या जगत् भी उन्हे दिखाई पड़ा है, जो भौतिक न होने पर भी सत्य है। इस अभौतिक जगत् का उन्हें इतना प्रत्यक्ष आभास मिलता है कि कभी-कभी वे सन्देह में पड़ जाती हैं कि वे दोनो मे से किस जगत् की हैं। उनके देखने में नाना कौतुकपूर्ण रूपों से युक्त इस छायामय जगत् में आत्मा एक परदेसी की तरह घूमती-फिरती आ जाती है। यहाँ वह ज्ञानद्वार की दूसरी ओर से (अर्थात् अगोचर जगत् से) किसी और ही जगत् के लोगो की परदे मे दबी हुई-सी वाणी आती हुई सुना करती है।*

---

* Only through a creek in the door's blind face
He would reach a thieving hand,

हम समझते हैं कि इतने से इस प्रकार की कविता का साम्प्रदायिक रूप स्पष्ट हो गया होगा। अतः रहस्यवाद की कविता के सम्बन्ध में हिन्दीवालों के बीच यह भ्रान्ति फैलाना कि सारे योरप मे इसी प्रकार की कविता हो रही है, यही वर्त्तमान युग की कविता का स्वरूप है, घोर साहित्यिक अपराध है। रहस्यवाद की कविता एक छोटे से सम्प्रदाय के भीतर की वस्तु है। इंग्लैण्ड आयर्लैण्ड को ही लीजिए। मेरी स्टर्जन (Mary C. Sturgeon) ने अभी वर्त्तमान अँगरेज़ी कवियो का जो परिचय (Studies of Contemporary Poets) प्रकाशित किया है उसमें बीस-बाईस कवि—जिनमें सरोजिनी नायडू भी हैं—विशेष विवरण के साथ लिए गए हैं। इनमे रहस्यवादी केवल दो या तीन हैं।

पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र मे रहस्यवाद किस प्रकार एक साम्प्रदायिक वस्तु समझा जाता है और उसके प्रति अधिकांश साहित्यिको और शिक्षित पाठकों की कैसी धारणा रहती है,

---

To draw some clue to his own strange place
From the other land
But his closed hand came back emptily,
As a dream drops from him who wakes,
And naught might he know but how a muffled sea
In whispers breaks
On either side of a gray barrier,
The two blind countries lie,
But he knew not which held him prisoner,
Nor yet know I.

इसका पता एक इसी बात से लग सकता है कि मेरी स्टर्जन की उपर्युक्त पुस्तक (Studies of Contemporary Poets) मे मिस मकाले की कविता के परिचय के आरम्भ में उसे 'रहस्य-वाद' की बताकर, यह भी कहना पड़ा है कि—

"पर इससे (रहस्यवाद की कविता होने से) किसी को यह आशंका न होनी चाहिए कि अब निम्न कोटि की कविता का पाषण्ड सामने रखा जायगा" । *

रहस्यवाद की कविताओ मे सबसे अधिक विरक्ति-जनक दो बातें होती हैं—भावो में सचाई का अभाव (Insincerity) और व्यंजना की कृत्रिमता (Artificiality) । उनमें व्यंजित अधिकांश भावो को कोई हृदय के सच्चे भाव नहीं कह सकता । अतः उनकी व्यंजना की उछल-कूद भी एक भद्दी नक़ल-सी जान पड़ती है । भावों की झूठी नक़ल का पता जल्दी लग जाता है । प्रत्येक सहृदय सच्ची कविता पढ़ते समय कवि या आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है । जहाँ अधिकांश पाठकों मे इस प्रकार के तादात्म्य का अभाव देखा गया कि बनावट का

---

* It (the book) is curiously interesting , since it may be regarded as the testament of mysticism for the year of its appearance, nineteen hundred and fourteen. That is indeed the most important fact about it; though no one need begin to fear that he is to be fobbed off with inferior poetry on that account.

निश्चय स्वभावतः हो जाता है। पर साथ ही यह बात भी है कि चाहे किसी प्रकार की रचना हो जब वह फ़ैएक शन के रूप में चला दी जाती है तब कुछ लोग बिना किसी प्रकार की अनुभूति के, यों ही रसज्ञ समझे जाने के लिए ही, वाह-वाह कर दिया करते हैं। इस प्रकार के लोग सब दिन रहे और रहेंगे। ऐसे ही लोगों के लिए उर्दू के एक पुराने शायर—शायद नासिख़—ने कुछ ऊट-पटांग शेर बना रखे थे। जो उनके पास उनके शेर सुनने की इच्छा से जाता था, उसे पहले वे ही शेर वे सुनाते थे। यदि सुननेवाला 'वाह-वाह' कहने लगता तो वे जान लेते थे कि वह मूर्ख है और उठकर चले जाते थे।

मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है। एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है। इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं। भाव-पक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों या योग-क्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर, लोकसामान्य भावभूमि पर प्राप्त होना (Impersonality and detachment)। कला या विधान-पक्ष मे उस अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा-कौशल। प्रेषण के लिए कवि मे अनुभूति का होना पहली बात है, इसमें सन्देह नहीं; पर उस अनुभूति को जिस रूप में कवि प्रेषित करता है वह रूप उसे बहुत कुछ इस कारण दिया जाता है कि उसे प्रेषित करना रहता

है।* यह हम पहले कह चुके हैं कि जिस रूप में कवि के हृदय में अनुभूति होती है, ठीक उसी रूप में शब्दों द्वारा प्रेषित नहीं की जा सकती।

इस विलायती 'प्रतीक-रहस्यवाद' के क्षेत्र में प्रकृति का क्या स्थान है, यह स्पष्ट है। जब कि प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों को हम उसकी छाया मानकर चलेंगे जिसके प्रति हमारा प्रेम उमड़ रहा है, तब वे रूप और व्यापार उद्दीपन मात्र होंगे। काव्य में उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—वाह्य और आलम्बनगत। यदि हम छाया को वस्तु के वाहर न मानकर, उसी का कुछ मानें, तो भी वह आलम्बनगत उद्दीपन मात्र होगी। इस प्रकार प्रकृति के साथ हमारा सीधा प्रेम-सम्बन्ध योरप के इस रहस्यवाद के काव्य में न माना जायगा।

यह समझ रखना चाहिए कि काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए ही फारस, अरब तथा योरप में हुई जहाँ पैगंबरी मतों के कारण मनुष्य का हृदय बँधा-बँधा ऊब रहा था। जिस प्रकार मनुष्य की बुद्धि का रास्ता रुका हुआ था, उसी प्रकार हृदय का भी। प्रकृति के प्रति भक्तों के भाव जिस हद तक और जिस गहराई तक जाना चाहते थे, नहीं जाने

---

* An experience has to be formed, no doubt, before it is communicated, but it takes the form it does, because it may have to be communicated.

—I. A Richards. "Principles of Literary Criticism".

पाते थे। प्रकृति के मूर्त्त पदार्थों के प्रति अपने गहरे-से-गहरे भाव की व्यंजना पूरे धार्मिक या भक्त ऐसे ही शब्दों में कर सकते थे—"उस परमात्मा की कारीगरी भी क्या ही अद्भुत है; कैसे-कैसे रूप, कैसे-कैसे रंग उसने सजाए हैं !" अपने भावों को सीधे अर्पित करते हुए उन्हें नर-पूजा, वस्तु-पूजा या मूर्त्ति-पूजा के पाप का ध्यान होता था। पर उक्त प्रकार की व्यंजना से ही मनुष्य की भावतुष्टि कहाँ तक हो सकती थी ? यहूदियों और पुराने ईसाइयो में धर्मसम्बन्धी बातो को मूर्त्त रूप में प्रकट करने के लिए साध्य-वसान रूपकों (Allegories) का प्रचार था। पर साध्यवसान रूपक एक भद्दा विधान है। इसी से अद्वैतवाद, सर्ववाद (Pantheism), प्रतिबिंबवाद आदि कई वादो का मिला-जुला सहारा लेकर उन्होंने अपने हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों के लिए गोचर भूमि तैयार की। उन्होंने प्रकृति के नाना रूपों के साथ परमात्मा के कर्तृत्व-सम्बन्ध के स्थान पर थोड़े-बहुत स्वरूप-सम्बन्ध की स्थापना की—पर किस प्रकार डरते-डरते यह पूर्व विवरण से स्पष्ट है।

फारस की सूफी शायरी मे बाह्य जगत् की सुन्दर वस्तुओ का प्रतीक 'बुत' (देवमूर्त्ति) रहा। बुत-परस्ती के इलज़ाम के डर से भक्त कवि लोग अपने प्रेम को सीधे बुतों (प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं) के प्रति न बताकर "बुतों के परदे मे छिपे हुए ख़ुदा" के प्रति बताया करते थे। फ़ारस में बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य प्रसार की ओर दृष्टि बहुत परिमित रही। इससे वहाँ प्रतीक इने-गिने रहे। सुन्दर मनुष्य का ही प्रतीक लेकर वे अधिकतर चले। पर

योरपवालों के प्रकृति-निरीक्षण का विस्तार बहुत बड़ा था। इससे वहाँ जब रहस्यवाद गया तब वहाँ की विस्तृत काव्यदृष्टि के अनुसार उसमें मूर्त्त विधान अधिक वैचित्र्यपूर्ण हुआ। ब्लेक को रूपात्मक वाह्य जगत् और मनुष्य की कल्पना के प्रत्यक्ष सम्बन्ध के विपर्य्यय का, सिद्धान्त-रूप मे, बड़े जोर शोर से प्रतिपादन करना पड़ा। भक्ति-काव्य में रहस्यवाद की उत्पत्ति के धार्मिक और सामाजिक कारण पर जो विचार करेगा उसे यह लक्षित हो जायगा कि यह सब द्राविड़ी प्राणायाम मजहबी तहज़ीब, धार्मिक शिष्टता (Religious courtesy) के अनुरोध से करना पड़ा।

भारतीय भक्तिकाव्य को 'रहस्यवाद' का आधार लेकर नहीं चलना पड़ा। यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठे हुए सच्चे भाव भगवान् की प्रत्यक्ष विभूति को बिना किसी संकोच और भय के—बिना प्रतिबिंब-वाद आदि वेदान्ती वादों का सहारा लिए—सीधे अर्पित करते रहे। मुसलमानी अमलदारी मे रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण भक्ति' की बानी चली वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से—आई थी। वह देशी वेश मे एक विदेशी वस्तु थी। इधर अँगरेज़ों के आने पर ईसाइयों के आन्दोलन के बीच जो ब्रह्मो-समाज बंगाल में स्थापित हुआ उसमें भी 'पौत्तलिकता'*

* इस शब्द का प्रचार ब्रह्मो-समाज में खूब था। यह अँगरेज़ी के Idolatory शब्द का अनुवाद है। इसी प्रकार महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रवर्त्तित "सत्यं, शिव, सुन्दरम्" भी—जिसे आज कल कुछ लोग उपनिषद् वाक्य समझ कर 'हमारे यहाँ भी कहा है" कह कर उद्धृत किया

का भय कुछ कम न रहा। अत. उसकी विनय और प्रार्थना जब काव्योन्मुख हुई तब उसमे भी 'रहस्यवाद' का सहारा लिया गया। सारांश यह कि रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है; काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नही।

भारत में काव्य-क्षेत्र इस प्रकार के वादो से बिल्कुल अलग रखा गया। यहाँ 'रहस्य' और 'गुह्य' योग तंत्र आदि के भीतर ही रहे। भक्तिमार्ग के सिद्धान्त-प्रतिपादन में भी इधर उधर इनकी कुछ झलक रही। पर कविता में भक्तो की भी वाग्धारा ने स्वाभाविक भाव-पद्धति का ही अनुसरण किया। उसके भीतर न तो उन्होंने रहस्यवाद का सहारा लिया, न प्रतिबिंबवाद का—यद्यपि वेदान्त के और वादो के साथ प्रतिबिंबवाद का निरूपण पहले भारतीय दर्शन मे ही हुआ। महाभारत के समय में ही यहाँ भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा हुई। वासुदेव या भागवत सम्प्रदाय के भीतर नर-नारायण या भगवान् के अवतार श्रीकृष्ण की उपासना

करते हैं—अँगरेजी के The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है। इस पदावली का प्रचार योरप के काव्य-समीक्षा-क्षेत्र में पहले बहुत रहा है, जैसा कि रिचर्ड्स (I A Richards) ने कहा है—

"Thus arises the phantom problem of the aesthetic mode or aesthetic state—a legacy from the days of abstract investigation into the Good, the Beautiful and the True".

हमें तो सब प्रकार की गुलामी से 'साहित्यिक गुलामी' का दृश्य सबसे खेदजनक प्रतीत होता है।

चली। नर मे नारायण की पूर्णकला का दर्शन आरम्भ में 'गुह्य' या रहस्य के रूप में ही कुछ लोगों ने किया, यह ठीक है। पर 'रहस्य' की समाप्ति वहीं पर हो गई। अवतारवाद मूल में तो रहस्यवाद के रूप मे रहा, पर आगे चल कर वह पूर्ण प्रकाशवाद के रूप मे पल्लवित हुआ। रहस्य का उद्घाटन हुआ और राम कृष्ण के निर्दिष्ट रूप और लोक-विभूति का विकास हुआ। उसी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या कला को ले कर हमारा भक्ति-काव्य अग्रसर हुआ; छिपे रहस्य को ले कर नहीं।

श्रीकृष्ण ने नर या नरोत्तम के रूप मे आ कर कहा कि "सब भूतों के भीतर रहनेवाली आत्मा मैं हूँ"। अर्जुन को इस रहस्य पर विस्मय हुआ। पर एक ओर का वह रहस्य और दूसरी ओर का वह विस्मय, भक्ति या काव्यमयी उपासना के आधार नहीं हुए। उसके लिए भगवान् को फिर कहना पड़ा कि "मैं पर्वतों में मेरु हूँ, ऋतुओं मे वसन्त हूँ और यादवों मे वासुदेव हूँ"। इस प्रकार जब प्रकृति की विशाल वेदी पर—अव्यक्त रूप मे उसके भीतर (Immanent) या बाहर (Transcendent) नहीं—भगवान् के व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा हो गई तब काव्यमयी उपासना या भक्ति की धारा फूटी जिसने मनुष्यों के संपूर्ण जीवन को—उसके किसी एक खण्ड या कोने को ही नहीं—रसमय कर दिया।

श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त दोनों कथनों के भेद पर सूक्ष्म विचार करने पर भारतीय भक्तिकाव्य का स्वरूप खुल जायगा। पहले

कथन में दो बाते हैं—"सब भूतों के भीतर मैं हूँ" और "अव्यक्त रूप में हूँ"। ये दोनों बातें मनुष्य-हृदय के संचरण-क्षेत्र से दूर की थीं। जिज्ञासापूर्ण नर ने पूछा, "जिसके भीतर आप हैं, जो नाना रूपों में हमें आकर्षित किया करता है, वह क्या है?" उत्तर मिला "वह भी मैं ही हूँ—मैं छिपा हुआ भी हूँ और तुम्हारे सामने भी हूँ। मेरे दोनों रूप शाश्वत और अनन्त हैं"। नर ने कहा "बस, इसी सामनेवाले रूप की नित्यता और अनन्तता ज़रा मुझे दिखा दीजिए"। नारायण ने दिक् काल का परदा हटा कर अपना व्यक्त, गोचर और अव्यय विश्वरूप सामने कर दिया।

सारा बाह्य जगत् भगवान् का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह नित्य है, अत. 'सत्' है, अत्यन्त रंजनकारी है, अत 'आनन्द' है। अतः इस 'सदानन्द स्वरूप' का वह प्रत्यक्ष अंश जो मनुष्य की रक्षा में (बना रहने देने अर्थात् सत् को चरितार्थ करने में) और रंजन में (सुख और मंगल का विधान करने में) अपार शक्ति के साथ प्रवृत्त दिखाई पड़ा, वही उपासना के लिए, हृदय लगाने के लिए, लिया गया। जिसमें शक्ति, शील और सौन्दर्य्य तीनों का योग चरमावस्था मे दिखाई पड़ा वही प्राचीन भारतीय भक्तिरस का आलम्बन हुआ। कर्मक्षेत्र में प्रतिष्ठित यह आलम्बन मनुष्य के अनेक-भावात्मक हृदय के साथ पूरा-पूरा बैठ गया; कोई कोना छूटने न पाया। "मैं ऋतुओं में वसन्त हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ और यादवों में कृष्ण हूँ" का संकेत यही

है। राम और कृष्ण की व्यक्त और प्रत्यक्ष कला को ले कर ही भारतीय भक्तिकाव्य अब तक चला आ रहा है ; ब्रह्म की अव्यक्त या परोक्ष सत्ता को ले कर नहीं।

इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने की बात है कि भक्तिक्षेत्र में राम या कृष्ण की प्रतिष्ठा रहस्य बतानेवाले 'सद्गुरु' या स्वर्ग का सँदेसा लानेवाले पैग़ंबर के रूप में नहीं है ; लोक के भीतर अपनी शक्तिमयी, शीलमयी और सौन्दर्यमयी कला का प्रकाश करनेवाले के रूप में है। इसी लोकरक्षक और लोकरंजक रूप पर भारतीय भक्त मुग्ध होते आए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी से जब किसी ने पूछा कि "आप कृष्ण की उपासना क्यों नही करते जो सोलह कला के अवतार हैं ; राम की उपासना क्यों करते हैं जो बारह ही कला के अवतार हैं ?" तब उन्होंने बड़े भोलेपन के साथ कहा कि "हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ।" इस उत्तर द्वारा गोस्वामीजी ने भारतीय भक्ति का स्वरूप अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यहाँ भक्तिकाव्य के क्षेत्र में भी अभिव्यक्ति-वाद ही रहा, रहस्यवाद, प्रतिबिंबवाद आदि नहीं। जो तुलसी, सूर आदि भारतीय पद्धति के भक्तों मे भी रहस्यवाद सूँघा करते हैं उन्हे रहस्यवाद के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए, उसके इतिहास को देखना चाहिए। व्यक्ताव्यक्त, मूर्त्तामूर्त्त—ब्रह्म के इन दो रूपों या पक्षो में से भारतीय भक्ति-रस के भीतर व्यक्त और मूर्त्त पक्ष ही, जिसका हृदय के साथ

सीधा लगाव है, लिया गया। इस रस-विधान में जगत् या प्रकृति ब्रह्म का रूप ही रही है; छाया, प्रतिबिंब, आवरण आदि नहीं। जो मनोहर रूपयोजना सामने लाई जाती है, हृदय के भाव ठीक उसी के प्रति होते हैं, उसके भीतर (Immanent) या उसके बाहर (Transcendent) रहनेवाले किसी हाऊ के प्रति नहीं।

यह पहले दिखाया जा चुका है कि यह योजना प्रकृति के रूपो को ले कर ही होती है। कल्पना भी बाह्य जगत् के रूपों या उनके संवेदनो की छाया है। सीधे उन रूपो से या रूपात्मक संवेदनों से हम प्रेम कर चुके रहते हैं तभी उनकी छाया अर्थात् कल्पना में हमारा हृदय रमता है। जगत् का यह व्यक्त प्रसार ही भाव के संचरण का वास्तविक क्षेत्र है। इससे अलग मनुष्य-कल्पना की कोई वास्तव सत्ता नहीं, वह असत् है। क्षणिक विज्ञानवादी ह्यूम (Hume) का यह सिद्धान्त बहुत पक्का है कि इन्द्रियज ज्ञान (Impressions) ही सब प्रकार के ज्ञान के मूल हैं और वे ही विचार विचार होते हैं जो इनके आधार पर संघटित होतेहैं। भाव के क्षेत्र मे भी व्यक्त प्रसार की अनुभूति ही मूल है। यदि 'कल्पना' शब्द बहुत प्रिय हो तो यो कह सकते हैं कि यह नित्य और अनन्त गत्यात्मक दृश्य जगत् ही ब्रह्म की कल्पना है। मनुष्य की कल्पना तो इसी की एक विकृत और परिमित छाया है। अनन्त का जितना अंश पृथ्वी से लेकर आकाश तक बिना दूरबीन के दृष्टि दौड़ाने में ही हमारे सामने आ जाता है उसका शतांश भी एक बार में कल्पना के भीतर नही

आ सकता । केवल 'असीम' और 'अनन्त' शब्द रखने या रटने से यह कभी नहीं कहा जा सकता कि असीम या अनन्त कल्पना के भीतर आया हुआ है, उसकी सचमुच अनुभूति हो रही है।

यह ठीक है कि किसी के सामने न रहने पर उसके प्रति जो प्रेमानुभूति होती है उसमें आलम्बन के स्थान पर उसकी कल्पनात्मक मूर्त्ति ही रहती है; पर उस मूर्त्ति या रूप का ग्रहण चित्रवत् ही होता है। उसके प्रत्यक्ष अर्थात् अधिक गोचर रूप में दर्शन, स्पर्श आदि की वासना बनी रहती है जिसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी अभिलाप के रूप मे होती है। राम या कृष्ण का ध्यान करनेवाले भक्त को भी ध्यान में आई हुई काल्पनिक मूर्त्ति का आना ही साक्षात्कार नहीं समझ पड़ता। यदि ऐसा होता तो ध्यानपूर्वक अभिलाप का कुछ अर्थ ही न होता। सारांश यह कि भारतीय भक्ति-काव्य अनुभूति की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति को लेकर ही चला है; उसमें किसी 'वाद' के द्वारा विपर्य्यय करके नहीं। वह अभिव्यक्ति या प्रकाश की ओर उन्मुख है; रहस्य या छिपाव की ओर नहीं।

अच्छी तरह विचार करने पर यह प्रकट होगा कि "अज्ञान का राग" ही अन्तर्वृत्ति को रहस्योन्मुख करता है। मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति मे इस अज्ञान के राग का भी ठीक उसी प्रकार एक विशेष स्थान है जिस प्रकार ज्ञान के राग का। ज्ञान का राग बुद्धि को नाना तत्त्वों के अनुसन्धान की ओर प्रवृत्त करता है और उसकी सफलता पर तुष्ट होता है। अज्ञान का राग मनुष्य के

ज्ञान-प्रसार के बीच-बीच में छूटे हुए अन्धकार या धुँधलेपन की ओर आकर्षित करता है तथा बुद्धि की असफलता और शान्ति पर तुष्ट होता है। अज्ञान के राग की इस तुष्टि की दशा में मानसिक श्रम से कुछ विराम-सा मिलता जान पड़ता है और उस अन्धकार या धुँधलेपन के भीतर मन के चिर-पोषित रूपों की अवस्थिति के लिए दृश्य-प्रसार के बीच अवकाश मिल जाता है। शिशिर के अन्त में उठी हुई धूल छाई रहने के कारण किसी भारी मैदान के क्षितिज से मिले हुए छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली श्यामल रेखा दिखाई पड़ती है उसके उस पार किसी अज्ञात दूर देश का बहुत सुन्दर और मधुर आरोप स्वभावतः आप-से-आप होता है। मनुष्य की सुदूर आशा के गर्भ में भरी हुई रमणीयता की कैसी मनोहर और गोचर व्यंजना उसके द्वारा होती है—

धुँधले दिगन्त में विलीन हरिदाभ रेखा,
किसी दूर देश की-सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अन्तर मिटा है चिर
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
भूत औ भविष्यत् की भव्यता भी सारी छिपी
दिव्य भावना-सी वहीं भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही
माधुरी हो जीवन की कटुता मिटाती है।

इसी प्रकार दूर से दिखाई पड़ती हुई पर्वतों की धुँधली नीली चोटियाँ भी मनोवृत्ति को रहस्योन्मुख करती हैं और अपने भीतर

कल्पना को रूप-विन्यास करने का अवसर देती है। पश्चिम दिगंचल की सांध्य स्वर्णधारा के बीच धूम्र, कपिश घन-द्वीपों से होकर जाता हुआ स्वर्ग का मार्ग-सा खुला दिखाई पड़ता है। विश्व की विशाल विभूति के भीतर न-जाने कितने ऐसे दृश्य हमारी अन्तर्वृत्ति को रहस्योन्मुख करते हैं।

स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमे सन्देह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियो मे से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि और-और अनुभूतियो के बीच कभी-कभी, प्रकरण प्राप्त होने पर, किया करते है। पर किसी 'वाद' के साथ सम्बद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्तमार्ग (Creed) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

योरप के जिस 'रहस्यवाद' का संक्षिप्त परिचय हमने दिया है वह सिद्धान्ती या साम्प्रदायिक रहस्यवाद है। स्वाभाविक रहस्य-भावना उक्त वाद से सर्वथा भिन्न है। किसी 'वाद' के ध्यान से, साम्प्रदायिक सिद्धान्त के ध्यान से, जो कविता रची जायगी उसमे बहुत कुछ अस्वाभाविकता और कृत्रिमता होगी। 'वाद' की रक्षा या प्रदर्शन के ध्यान मे कभी-कभी क्या प्रायः रस-संचार का प्रकृत मार्ग किनारे छूट जायगा।

सिद्धान्ती या साम्प्रदायिक रहस्यवादियों के अतिरिक्त योरप के प्रसिद्ध कवियो मे भी बहुत-से ऐसे कवि हुए है जिनकी कुछ

रचनाओं के बीच-बीच में बड़ी सुन्दर स्वाभाविक रहस्य-भावना पाई जाती है। वर्ड्सवर्थ (Wordswoith) और शेली (Shelley) इसी प्रकार के कवि थे। इनकी रहस्य-भावना स्वाभाविक पद्धति पर होने के कारण हृदय में सच्ची अनुभूति उत्पन्न करती है। जिन तथ्यों या दृश्यों को लेकर इनकी वृत्ति रहस्योन्मुख हुई है उनके समक्ष सहृदय मात्र रहस्य का अनुभव कर सकते हैं। बात यह है कि ये कवि रहस्यवादी नहीं। ये रहस्य को 'वाद' के रूप में लेकर नहीं चले हैं। इन्होंने सच्ची स्वाभाविक रहस्य-भावना की व्यंजना की है। इनकी भावना अभिव्यक्ति का सूत्र ग्रहण करके ही कभी-कभी रहस्योन्मुख हुई है। जगत् रूपी अभिव्यक्ति से तटस्थ, जीवन से तटस्थ, भावभूमि से तटस्थ कल्पना की झूठी कलाबाज़ी, भावों की नकली उछल-कूद और वैचित्र्य-विधायक कृत्रिम शब्दभंगी—जो आधुनिक रहस्य-वादियों में अभिव्यंजना-वादियों (Expressionists) के प्रभाव से आई है—वर्ड्सवर्थ और शेली की कविता का लक्षण नहीं है।

वर्ड्सवर्थ की कविता ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति प्रकृति से सीधा प्रेम-सम्बन्ध रखती है। कहीं-कहीं उसमें सर्ववाद (Pantheism) की भी झलक है, परोक्ष जगत् की ओर भी इशारा है, पर उसकी विचरण-भूमि प्रकृति का प्रकाशित क्षेत्र ही है। दूर तक फैले मैदान में कहीं धूप, कहीं छाया बारी-बारी से पड़ती देख वर्ड्स-वर्थ ने अपने लिए प्रकाश का क्षेत्र चुना और उनके साथी काल-

रिज (Cileridge) ने छाया का। पर कालरिज की छाया इस जगत् पर, इस जीवन पर, पड़ी हुई छाया थी। वह किसी 'वाद' के अनुरोध से सारे जगत् को छाया और अपनी कल्पना को ईश्वरीय सत्ता बताता हुआ नहीं चला। उसका कहना यह था कि मनुष्य चारों ओर एक अज्ञात रहस्य से घिरा हुआ है जिसका परोक्ष विधान उसके जीवन का रंग बदला करता है। कालरिज का प्रस्तुत विषय जीवन है; परोक्ष रहस्य उसके बदलते हुए रंगों की हेतु-भावना के रूप में है। इससे कालरिज को भी हम सिद्धान्ती रहस्यवादी न कहकर स्वाभाविक रहस्य-भावना-सम्पन्न कवि मानते हैं।

इधर हिन्दी में कभी-कभी रहस्यवाद के सम्बन्ध में जो लेख निकलने लगे हैं उनमें से बहुतों में एक साथ बहुत से नामों की उद्धरणी—जैसे, वर्ड्सवर्थ, शेली, कालरिज, ब्राउनिंग यहाँ तक कि कीट्स (Keats) भी—मिलती है। इनमें वर्ड्सवर्थ तो प्रकृति के सच्चे उपासक थे। वे प्रकाश या अभिव्यक्ति को लेकर चले थे। उनका 'रहस्यवाद' से कोई सम्बन्ध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के प्रति जैसी सच्ची भावुकता उनकी थी, अँगरेज़ी के पिछले कवियों में किसी की न थी। एक छोटी-सी कविता में उन्होंने इस बात पर बहुत खेद प्रकट किया है कि ऐसे मधुर और प्रिय रूपों को नित्य प्रति सामने पाकर भी अब लोगों के हृदय उनकी ओर आकर्षित नहीं होते। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि "इससे अच्छा तो यह था कि हम लोग ईसाई न होकर पुराने मूर्त्ति-पूजक ही रहते और

प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय के योग का अनुभव करते। उनका प्रकृति प्रेम कुतूहल, विस्मय और सुख-विलास की मनोवृत्ति से सम्बद्ध न था। वे अलौकिक, असामान्य, अद्भुत और भव्य चमत्कार ढूँढ़नेवाले न थे। नित्य प्रति सामने आनेवाले चिर-परिचित सीधे-सादे सामान्य दृश्यो के प्रति अपने सच्चे अनुराग की व्यंजना जैसी वर्ड्सवर्थ ने की है, और जगह नहीं मिलती।

जो एक पुरानी गढ़ी के आसपास लगे पेड़ो के झुरमुट के कटवाने पर दुखी होता है, ऐसे सच्चे प्रकृति-प्रेमी कवि को 'रहस्य-वादी' कहना उसकी अप्रतिष्ठा करना है। "एक पथिक को शिक्षा" (Admonition to a Traveller) नाम की एक छोटी-सी कविता में वर्ड्सवर्थ ने एक नागरिक पथिक को किसी ग्राम मे छोटे-से नाले के तट पर, थोड़ी-सी गोचारण-भूमि के बीच खड़े एक छोटे-से झोपड़े को ललचती आँखो से देखते देखकर, कहा है—"उस घर का लालच न कर। बहुत-से तेरे ऐसे लोग इसी तरह ताकते और सोचते-विचारते रह जाते हैं। उनकी चले तो वे प्रकृति की पुस्तक के इस बहुमूल्य पत्रे को अपवित्र निष्ठुरता से नोच फेकें। यह समझ रख कि यह घर यदि आज तेरा हो जाय तो जो कुछ आकर्षण इसमे है वह सब हवा हो जाय। इसकी छत, खिड़की, दरवाज़े, चढ़ी हुई फूल की लताएँ सब दीनो की पवित्र वस्तुएँ हैं।" प्रकृति के प्रति जो भाव वर्ड्सवर्थ का था उसी को मैं सच्चे कवि का भाव मानता हूँ। सदा असामान्य,

अद्भुत और भव्य चमत्कार ढूँढ़नेवाली दृष्टि को मैं मार्मिक काव्य-दृष्टि नहीं मानता।

जैसा पहले कहा जा चुका है केवल कहीं-कहीं वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति की अन्तरात्मा (Spirit of Nature) की ओर संकेत किया है; एकआध जगह प्रकृति के ही किसी तथ्य के भीतर परोक्ष जगत् का भी आभास दिया है, जैसे, "बाल्यावस्था की स्मृति-द्वारा अमरत्व का संकेत" (Ode on Intimations of Immortalityf rom Recollections of Early Childhood) नाम की कविता मे। उसमें कवि कहता है—

"हमारा जन्म एक प्रकार की निद्रा या विस्मृति है। जीवन के नक्षत्र हमारी आत्मा का—जिसका उदय हमारे साथ होता है—विधान कहीं अन्यत्र ही हुआ करता है। वह किसी दूर देश से आती है। आने मे न तो हम मे एक दम विस्मृति ही रहती है, न शुद्ध-रूपता ही। ईश्वर के पास से हम दिव्य और भव्य घन-खंडों मे से होते हुए आते हैं। बचपन में हमारे चारो ओर स्वर्ग का आभास कुछ-कुछ बना रहता है। पर ज्यो-ज्यों बालक बढ़ता जाता है त्यों-त्यो इस भव्य कारागार की छाया में बन्द होता जाता है। फिर भी उस ज्योति का आभास उसे कुछ काल तक अपने आनन्द में मिलता रहता है। युवावस्था की ओर बढ़ता हुआ वह यद्यपि अपने उदय की दिशा से दूर होता जाता है, पर प्रकृति का पुजारी तब भी बना रहता है। उसका मार्ग दिव्य सौन्दर्य्य की भावना से जगमगाता रहता है। अन्त मे जब वह बढ़कर पूरा

मनुष्य हो जाता है तब आनन्द की वह आभा जीवन के मध्याह्न के प्रखर प्रकाश मे विलीन हो जाती है।" *

कैसी स्वाभाविक रहस्य-भावना है! इसका संकेत कवि को अभिव्यक्ति के क्षेत्र के भीतर ही मिला है। इसमें किसी 'वाद' के भीतर निरूपित तथ्य की व्यंजना प्रकृति के रूपों और व्यापारों से ज़बरदस्ती नहीं कराई गई है। न असीम और ससीम का द्वन्द्व-दर्शन है; न अव्यक्त और अगोचर की झाँकी है, न वेदना का

---

* Our birth is but a sleep and forgetting ;
The soul that rises with us, our life's star,
Hath had elsewhere its setting,
And cometh from afar ;
Not in entire forgetfulness,
And not it utter nakedness,
But trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home
Heaven lies about us in our infancy !
Shades of the prison-house begin to close
Upon the growing boy,
But he beholds the light and whence it flows,
He sees it in his joy ,
The youth, who daily farther from the east
Must travel, still is Nature's priest,
And by the vision splendid
Is on his way attended ,
At length the man perceivas it die away,
And fade into the light of common day.

अट्टहास और उन्मत्त नृत्य है। जिस आनन्द-लोक की ओर संकेत है वह केवल लोकान्तर है। यह संकेत जीवन के जिस वास्तव तथ्य से कवि को मिला है, उसका स्पष्ट उल्लेख आगे चलकर है—

"अपने लड़कपन के दिनों का स्मरण कीजिए! वे ही हरे-भरे मैदान अमराइयाँ और नाले आदि जो अब साधारण दृश्य जान पड़ते हैं, कैसी आनन्दमयी दिव्य प्रभा से मंडित दिखाई पड़ते थे! फूल अब भी सुन्दर लगते हैं, चन्द्रमा अब भी शरदाकाश मे सुहावना लगता है, पर इन सबकी वह दिव्य आभा अब पृथ्वी पर कहाँ जो लड़कपन में हृदय को आनन्दोल्लास से भर देती थी।"

शेली की मनोवृत्ति वर्ड्सवर्थ की मनोवृत्ति से बहुत भिन्न थी। उनकी वृत्ति प्रकृति के असामान्य, अद्भुत, भव्य और अधिक प्राचुर्य्यपूर्ण खण्डों मे रमती थी, इसी से उनमें कल्पना का आधिक्य है। सामान्य-से-सामान्य चिर परिचित दृश्यो के माधुर्य्य की मार्मिक अनुभूति उनमे न थी। दूसरी बात यह है कि वे कुछ अपने बँधे हुए विचार मन में लेकर प्रकृति के क्षेत्र में प्रवेश करते थे। वे मनुष्य-जाति की वर्त्तमान स्थिति में सिर से पैर तक उलट-फेर चाहते थे। राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक सब प्रकार की व्यवस्थाओं और बन्धनों को वे छिन्न-भिन्न देखा चाहते थे। पर इस प्रकार की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ रहते हुए भी प्रकृति की रूप-विभूति का ऐसा शृंखलाबद्ध और संश्लिष्ट चित्रण थोड़े से इने-गिने कवियो में ही मिल सकता है।

"अलास्टर" (Alastor, or the Spirit of Solitude) में एकान्त सुख-शान्ति का अन्वेषी एक कवि सारे भूमण्डल पर अकेला भ्रमण करता है। शेली उसे ऐसी-ऐसी भव्य, विशाल, अदृष्टपूर्व और अद्भुत चमत्कारपूर्ण दृश्यावलि के बीच से ले गए हैं कि पाठक पढ़कर उनमें गड़ सा जाता है। प्रकृति के ऐसे-ऐसे गूढ़ गह्वरों तथा अनुपम और कमनीय क्रीड़ाक्षेत्रों में वह कवि पहुँचाया गया है जहाँ मनुष्य ने कभी पैर नहीं रखा। एक नमूना देखिए—

"प्रकृति के गुप्त-से-गुप्त पथों में वह उसकी छाया की तरह जाता है—जहाँ ज्वालामुखी से उठी हुई लपट की रक्त आभा तुषारमण्डित पर्वत-शिखर के ऊपर छाई हुई है।.........जहाँ ऐसी अटपटी अन्धेरी गुप्त गुफाएँ हैं जो ज्वलन्त और विपाक्त धाराओं के बीच चक्कर खाती बड़ी दूर तक चली गई हैं और जिनमें अब तक न लोभ मनुष्य को ले गया है, न साहस का अभिमान। गुफा के भीतर बड़े-बड़े दीवानखाने पड़े हैं जिनके ऊपर फैली हुई छत हीरे और सोने से जड़ी है। स्फटिक के ऊँचे-ऊँचे खम्भे खड़े हैं। बीच-बीच में उज्ज्वल मुक्तामयी वेदियाँ दिखाई पड़ती हैं। पुष्पराग के सिंहासन इधर-उधर पड़े झलकते हैं"।

कोह काफ (काकेशस) की ऐसी-ऐसी दुर्गम घाटियों के भीतर घूमती-फिरती उस कवि की छोटी-सी नाव बहती जाती है जिसके दोनों ओर ऊपर तो गगनस्पर्शी शिखर और नीचे जल में धुसी

बेडौल चट्टानो पर अपनी जड़ो का जाल फैलाए वृक्षों की निविड़ और सघन राशि! प्रकृति के खण्डो के ऐसे-ऐसे संश्लिष्ट और शृंखलाबद्ध चित्रण उनके "इसलाम का विप्लव" (The Revolt of Islam) आदि काव्यो में भरे पड़े है जैसे कहीं किसी रहस्य-वादी कवि की रचना मे नही मिल सकते। रहस्यवादी की काव्य-दृष्टि एक बार मे इतने विस्तार तक पहुँचती ही नही या पहुँचाई ही नहीं जाती।

शेली की पिछली रचनाओ में ही कही-कहीं रहस्य-भावना का उन्मेष पाया जाता है। "सौन्दर्य्य बुद्धि की स्तुति" (Hymn to Intellectual beauty) नाम की कविता मे शेलो ने उस नित्य गतिशील सौन्दर्य्य-सत्ता का स्तवन किया है जो समय-समय पर वाह्य प्रकृति को वसन्त-विकास के रूप में अपने नाना रंगो से जगमगाया करती है और मनुष्य के हृदय को प्रेम, आशा और गर्व से प्रफुल्ल किया करती है। कहने की जरूरत नहीं कि यह भावना गत्यात्मक सौन्दर्य्य की अभिव्यक्ति को ही लेकर चली है। स्त्रीत्व का आध्यात्मिक आदर्श व्यंजित करनेवाली "एपिसिडियन" (Epipsychidion) नाम की कविता भी इसी ढंग की है। "जिज्ञासा" का उल्लेख पहले हो चुका है। ऐसी ही कुछ थोड़ी-सी छोटी छोटी कविताओ मे रहस्य-भावना पाई जाती है; पर ऐसी नही जो रहस्यवादियो के काम की हो। मेरे ध्यान मे तो शेली की एक ही ऐसी छोटी-सी कविता आती है जिसमें रहस्य-वादियों के काम की कुछ सामग्री है। वह है—"कवि-स्वप्न"

(The Poet's Dream) जिसमे कवि के सम्बन्ध मे कहा गया है कि—

"वह प्रभात से सायंकाल तक झील मे झलमलाती धूप और इश्कपेचो के फूलों पर वैठी पीली मधु-मक्खियो को देखता रहेगा। इसकी परवा न करेगा कि इन वस्तुओं की सत्ता क्या है। वह इनके (इन रूपों के) द्वारा ऐसे रूप (कल्पना मे) संघटित करेगा जो अमरत्व के अंगज होंगे और जिनकी सत्ता मनुष्य-सत्ता से भी वास्तविक होगी। *

पर एकआध जगह मिलनेवाली 'वाद' की ऐसी सामग्री शेली को रहस्यवादी कवियों मे नही ढकेल सकती। शेली पर जो समीक्षा-पुस्तकें निकली हैं, उनमें शेली रहस्यवादी कवि नहीं निरूपित हुए हैं।

इधर समय-समय पर हिन्दी पात्र-पत्रिकाओं मे रहस्यवाद या छायावाद की जानकारी कराने के लिए जो लेख निकलने लगे हैं उनमे से किसी-किसी में वेचारे कीट्स (Keats) तक का नाम घसीटा जाता है, जिनसे रहस्यवाद का नाम मात्र का भी लगाव

---

* He will watch from dawn to gloom
The lake-reflected sun illume,
The yellow bees in the ivy-bloom.
Nor heed nor see what things they be ;
But from these create he can,
Forms more real than living man,
Nurslings of immortality

नहीं। अँगरेज़ी साहित्य का थोड़ा परिचय रखनेवाला भी जानता है कि कीट्स प्राचीन यूनानी काव्य का आदर्श लेकर नए ढंग (Romantic) पर चले हैं जिसमे रहस्यवाद की गंध तक नहीं। यह दिखाया जा चुका है कि जिसमें रहस्यवाद की उत्पत्ति पैग़म्बरी (Semitic) मतों के भीतर हुई है। प्राचीन आर्य्य-काव्य मे—क्या भारत के, क्या योरप के—रहस्यवाद का नाम तक नहीं, सीधा देववाद है। कीट्स की कल्पना बहुत ही तत्पर थी इससे उनमें मूर्त्त विधान (Imagery) का विलक्षण प्राचुर्य्य है। वे अपने इन्द्रियार्थवाद (Sensualism) के लिए प्रसिद्ध हैं; रहस्यवाद के साथ तो उनका नाम कहीं लिया ही नहीं जाता। कहीं ईट्स के धोखे में उनका नाम न आ जाता हो ?

एक दूसरी कोटि के कवि भी होते हैं जिन्हे कभी-कभी भ्रान्तिवश कुछ लोग रहस्यवादी कह दिया करते हैं। अँगरेज़ी कवि ब्राउनिंग (R. Browning) इसी तरह के कवि थे। उनकी कविता में बुद्धि-व्यापार का बहुत योग है। विचारों की ऐसी सघनता बहुत कम कवियों में पाई जाती है। कहीं-कहीं विचारों की गति इतनी क्षिप्र होती है कि पाठक साथ-साथ नहीं चल पाता और उसे दुर्बोधता या अस्पष्टता का अनुभव होता है। कहीं-कहीं इसी प्रकार की अस्पष्टता की प्रतीति के कारण स्थूल दृष्टि से देखनेवालों को रहस्यवाद का धोखा होता है। पर ब्राउनिंग की अस्पष्टता में और रहस्यवादी की बनावटी अस्पष्टता में कौड़ी-मुहर का फ़र्क़ है। दोनो की उत्पत्ति सर्वथा भिन्न कारणों से

है। एक की अस्पष्टता विचार-शृंखला की सघनता और जटिलता के कारण होती है और दूसरे की विचार-शृंखला के सर्वथा अभाव के कारण। एक में बुद्धितत्त्व (Intellectuality) के साथ पूरा साहचर्य है और दूसरे में विच्छेद। दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं।

काव्यक्षेत्र में ब्राउनिंग का लक्ष्य बहुत ही उच्च था। उनका लक्ष्य था गूढ़ और ऊँचे विचारों के साथ हृदय के भावों का संयोग करना। जैसा हम पहले कह आए हैं अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धिव्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर अत्यन्त विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। कितने गहरे, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है; कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में बराबर रखना पड़ेगा। ब्राउनिंग का आदर्श यही था। वे कवि-कर्म को बहुत गम्भीर समझते थे, मनबहलाव या कुतूहल की सामग्री नहीं। चित्रकला, मूर्त्तिकला आदि हलकी कलाओं के साथ कविता को बिल्कुल मिलाकर जो काव्य-समीक्षा योरप में चली उसने काव्य के लक्ष्य की धारणा बहुत हलकी और संकुचित कर दी।

सच्ची स्वाभाविक रहस्य-भावनावाले कवि और साम्प्रदायिक या सिद्धान्ती रहस्यवादी की पहचान के लिए काव्य-वस्तु (Matter) का भेद आरम्भ में ही हम दिखा आए हैं। विधान-विधि

(form) का भेद ऊपर सूचित किया गया। स्वाभाविक रहस्य-भावना-सम्पन्न कवि प्रकृति का कोई खंड लेकर वस्तु-व्यापार की संश्लिष्ट और शृङ्खला-बद्ध योजना द्वारा पूर्ण दृश्य का विधान करते चलते हैं। उनकी रूप-योजना विस्तीर्ण और जटिल होती है तथा कुछ दूर तक अखंड चलती है, पर साम्प्रदायिक या सिद्धान्ती रहस्यवादी कुछ बँधी हुई और इनी-गिनी वस्तुओ की ठीक उसी प्रकार अलग-अलग झलक दिखाकर रह जाते है जिस प्रकार हमारे पुराने शृङ्गारी कवि, ऋतुओं के वर्णन में, उद्दीपन-सामग्री दिखाया करते हैं। इसी लिए स्वाभाविक रहस्य भावना वाले कवि चरित-काव्य या प्रबन्ध-काव्य का भी बराबर आश्रय लेते हैं; पर साम्प्रदायिक रहस्यवादी मुक्तकों या छोटे छोटे रचना-खंडों पर ही सन्तोप करते हैं। प्रथम कोटि के कवियों में दृश्य के संश्लिष्ट प्रसार के साथ-साथ विचार और भाव बड़ी दूर तक मिली हुई एक अखंड धारा के रूप मे चलते हैं। पर दूसरी कोटि के कवियों में यह अन्विति (Unity) और मनोहर प्रसार अत्यन्त अल्प या नही के बराबर होता है। अतः इस दूसरी कोटि मे वर्ड्सवर्थ और शेली क्या कालरिज भी नहीं आ सकते जिनकी रचनाओ में बहुत ही संश्लिष्ट और जटिल दृश्य-विधान प्रस्तुत रूप मे—रहस्य-वादियो के समान अप्रस्तुत रूप मे नहीं—पूरी मूर्त्तिमत्ता के साथ दूर तक चलते पाए जाते हैं।

पाश्चात्य रहस्यवाद और पाश्चात्य स्वाभाविक रहस्य-भावना का थोड़ा विस्तृत उल्लेख इस लिए करना पड़ा कि आजकल

विचारो की पराधीनता के कारण योरप ही 'जगत्' समझा और कहा जाता है। जो कुछ अब तक कहा गया उससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि योरप का सिद्धान्ती रहस्यवाद, जो ब्लेक और ईट्स आदि में पाया जाता है, वह अरब-फारस के सूफियो के यहाँ से गया है। उसके पहले यहूदियो और कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाइयों में जो रहस्य-भावना प्रचलित थी वह ईश्वरवाद (Theism) के भीतर थी। उसमें उस प्रेम-पूर्ण परम पिता के दया-दाक्षिण्य का आभास जगत् की नाना वस्तुओ और व्यापारो में रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था। सूफियों के रहस्यवाद में सर्ववाद (Pantheism) या अद्वैतवाद (Monism) के साथ प्रतिबिम्बवाद का योग था। वेदान्त में सर्ववाद और प्रतिबिम्बवाद एक ही नहीं है। सर्ववाद वेदान्त का पुराना रूप है। उसके उपरान्त विवर्त्तवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, अजातवाद आदि जो कई वाद, ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध-निरूपण में, चले उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-वाद भी एक है।

सर्ववाद का अभिप्राय यह है कि व्यक्ताव्यक्त, मूर्त्तामूर्त्त, चिदचित् जो कुछ है सब ब्रह्म ही है। इस पुराने वाद के अनुसार जगत् जिस रूप में हमारे सामने है उस रूप में भी ब्रह्म ही का प्रसार है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जिस रूप में जगत् हमारे सामने है उस रूप में ब्रह्म तो नहीं है, हाँ, उसकी छाया या प्रतिबिंब अवश्य है। सूफियों ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध मे तो अद्वैतवाद ग्रहण किया, पर जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में

प्रतिबिम्बवाद को अपनाया। इस प्रतिबिम्बवाद को लेकर सिद्धान्त-पक्ष में उन्होंने उस 'कल्पनावाद' की उद्भावना की जिसका वर्णन हम कर आए हैं और जिसे काव्य-पक्ष में लेकर ब्लेक आदि विलायती रहस्यवादियों ने साहित्य मे एक विलक्षण आडम्बर खड़ा किया। पर सूफियो ने अपने उस 'कल्पना-वाद' को केवल ध्यान के लिए साधना या सिद्धान्त-पक्ष में ही रखा; काव्यक्षेत्र मे नहीं घसीटा। काव्यक्षेत्र में उन्होंने प्रतिबिम्बवाद के साथ 'अभिव्यक्तिवाद' का मेल किया जिससे उनकी कविता का रंग वैसा ही स्वाभाविक और हृदयग्राही रहा जैसा और कविता का।

सूफी कवि इस बाहर फैले हुए परदे के बीच-बीच में ही—छाया के बीच-बीच में ही—अपने प्रियतम की झलक पाते रहे; अपने भीतर की उलटी-सीधी, अव्यवस्थित कल्पना में नही। बाहरी जगत् के जिस रूप में उन्हें उसके सौन्दर्य्य, हास, औदार्य्य, प्रेम, क्रीड़ा इत्यादि की छटा का आभास मिला उसे वे पीछे कल्पना में धारण करके भी रस-मग्न होते रहे। सारांश यह कि सबके सामने फैले हुए बाह्य जगत् के रूपो और व्यापारों में कुछ सच्चा आभास या संकेत पाकर, तब वे उसके अनुरूप भाव-व्यंजना करते थे। इससे एक सामान्य भावभूमि पर प्राप्त होकर श्रोता या पाठक का हृदय भी उनके भाव को अपना लेता था। इसके विपरीत विलायती रहस्यवादी या उनके अनुयायी बाह्य जगत् की स्वच्छ और सच्ची अभिव्यक्ति से, जो मनुष्य-मात्र के

लिए कल्पना और भाव ग्रहण करने का सामान्य और अक्षय्य भाण्डार है, आँखें मूँदकर अपनी वात-पित्त-ग्रस्त कल्पना के कोने में इकट्ठे किए हुए रोड़े अकस्मात् लुढ़काकर भावों के उन्माद-भार से हलके होने का अभिनय किया करते हैं।

क्यों सूफी-भाव की कविता हृदय को विकसित करनेवाली होती है और विलायती रहस्यवाद की कविता का अनुकरण, या उसके अनुकरण का अनुकरण, हृदय की अनुभूति से दूर अपनी लपक-झपक दिखाया करती है, इसके एक बड़े भारी कारण का पता तो ऊपर लिखी बातों से लग जाता है। पर कुछ और कारण भी हैं। योरप के काव्य-समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित 'अभिव्यंजना-वाद' (Expressionism) और "कला का उद्देश्य कला ही है" का पूरा प्रभाव आधुनिक विलायती रहस्यवाद पर है। प्रभाव है क्या, कहना चाहे तो कह सकते हैं कि उक्त रहस्यवाद तीनों वादों के मेल से—ब्लेक द्वारा अंगीकृत 'कल्पना-वाद' के साथ 'अभिव्यंजना-वाद' और 'कला का उद्देश्य कला'-वाद के मेल से—संघटित है।

'कल्पनावाद' के अवलम्बन से उत्पन्न विषमता का उल्लेख तो हो चुका। रहा पिछले दो वादों से ग्रस्त विलायती रहस्यवाद के अनुकरण, या अनुकरण के अनुकरण, का फल, वह भी सुगमता से अनुमान में आ जाता है। 'अभिव्यंजना-वाद' की प्रवृत्ति वाग्वैचित्र्य या शब्दभंगी की ओर अधिक है। वाग्वैचित्र्य का उचित स्थान काव्य में क्या है, यह हम पहले दिखा आए है। यहाँ हिन्दी में उसके अनुकरण में जो और विशेष विरूपता दिखाई पड़ती है

उसी का यहाँ विचार करना है। योरपीय भाषाओं में वाग्वैचित्र्य का विधान अधिकतर उन भाषाओं की लाक्षणिक चपलता के बल पर होता है। प्रत्येक भाषा की लाक्षणिक प्रवृत्ति उसके बोलने-वालों की अन्तःप्रकृति और संस्कारो के अनुरूप हुआ करती है। अतः एक भाषा के लाक्षणिक प्रयोग दूसरी भाषा में बहुत कम जगह काम दे सकते हैं।

विलायती रहस्यवाद की कविताओं में बाहरी विशेषता जो दिखाई पड़ी, वह थी लाक्षणिक प्रगल्भता और वाग्वैचित्र्य। अतः उसका अनुकरण सबसे पहले और अधिक उतावली से हुआ; इससे ठीक ढंग पर न चला। अधिकतर तो अनुकरण न होकर अवतरण हुआ जिससे वैचित्र्य की तत्काल सिद्धि दिखाई पड़ी। एक भाषा के पदविन्यास, लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरे इत्यादि यदि शब्द-प्रति-शब्द दूसरी भाषा मे रख दिए जायँ तो यों ही एक तमाशा खड़ा हो जाता है। अँगरेज़ी के किसी एक साधारण पैरा-ग्राफ का शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद करके सामने रखिए और उसकी विचित्रता देखिए। तुर्की या चीनी का ऐसा ही अवतरण सामने रखिए तो और ही बाहर दिखाई दे। विलायती रहस्यवाद जब बंग-भाषा-साहित्य के एक कोने से होता हुआ हिन्दी में आ निकला तब उस पर दो भाषाओ के अजनबीपन की छाप दिखाई पड़ी। बहुत-कुछ वैचित्र्य तो इस अजनबीपन मे ही मिल गया। पर यदि लाक्षणिक विधान अपनी भाषा की गति-विधि के अनुसार होता तो क्या अच्छी बात होती!

अभिव्यंजना-वाद के प्रसंग में हम दिखा चुके हैं कि उसके अनुकूल विलायती रचना के अनुकरण को हद से बाहर घसीटने के कारण छायावाद समझकर लिखी जानेवाली कविताओं में अप्रस्तुत वस्तु-व्यापारों की बड़ी लंबी लड़ी के अतिरिक्त और कुछ सार नहीं होता। सब मिलाकर पढ़ने से न कोई सुसंगत और नूतन भावना मिलेगी, न कोई विचारधारा और न किसी उद्भावित सूक्ष्म तथ्य के साथ भाव-संयोग, जिसका कुछ स्थायी संस्कार हृदय पर रहे। अप्रस्तुत विधान, चाहे वे किसी रूप में रखे जायँ, वास्तव में अलंकार मात्र होंगे। अतः ऐसी कविताओं की परीक्षा करने पर उपमान-वाक्यों के ढेर के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता। किसी एक कविता के भीतर विचारों या भावनाओं का इधर-उधर भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रसार न होते चलने के कारण अप्रस्तुत वस्तुओं में भी पूरी विभिन्नता नहीं होती। एक प्रकार से ढेर भी समान रंग-ढंग की वस्तुओं का ही होता है। अतः एकान्विति (Unity) और सम्बन्ध (Coherence) की, सच पूछिए तो, जगह ही नहीं होती।

पर इन दोनों के बिना अच्छी-से-अच्छी सामग्री का बिखरा हुआ ढेर कला की कृति नहीं कहला सकता। सामग्री परस्पर जितनी ही भिन्न और अनेकांग-स्पर्शिणी होगी उतना ही उनका सामंजस्यपूर्वक अन्वय कला का उत्कृष्ट विधान कहा जायगा। 'छायावाद' का पास लेकर काव्यक्षेत्र में आनेवाली अधिकांश रचनाओं में कोई भावना उठकर कुछ दूर तक सांगोपांग चलती नहीं

दिखाई पड़ती। यह वास्तव में उपर्युक्त अवतरण-व्यापार का ही परिणाम है। वैचित्र्य के लोभ मे भिन्न-भिन्न स्थलों से संगृहीत वाक्यों और पदविन्यासों को एक में समन्वित करना भी तो कठिन ही है।

किसी प्रकृत आलंबन से सीधा लगाव न रखने के कारण भावों मे जो सचाई का अभाव (Insincerity) या कृत्रिमता (Artificiality) रहती है वह तो मूल ही से आई है। यह बात मैं उन रचनाओ के संबंध में कहता हूँ जो वास्तव में रहस्यवाद या छायावाद के अन्तर्गत होती हैं।

एक चौथी बात जिसकी चर्चा छायावाद की कविता के साथ हुआ करती है वह छंद-बंधन का त्याग और लय (Rythm) का अवलंबन है। पर यह एक बिल्कुल दूसरी हवा है जो अमेरिका की ओर से आई है। इसका रहस्यवाद या छायेवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे एक आन्दोलन के रूप में खड़ा करनेवाला अमेरिका का वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) था जिसने सन् १८५५ ई० में "घास के पत्ते" (Leaves of Grass) नाम की एक कविता केवल लय पर चलनेवाली बिना छंद की पंक्तियों में निकाली। इसके पीछे इस तरह की और बहुत-सी कविताएँ उसने लिखीं जिनमें समीक्षकों ने काव्यत्व, कला-विधान और साहित्यिक शिष्टता की बहुत कमी बताई। एक समीक्षक ने बहुत थोड़े में अपनी राय इस प्रकार दी—

"अनुभूतियो का गड़बड़-झाला, भावो और विचारों का बिखरा हुआ ढेर, सामने रख दिया गया है—बिना तुक-तुकान्त

के, जो कोई त्रुटि नहीं; विना छंद के, जो एक त्रुटि अवश्य है और प्राय: विना किसी बुद्धि-व्यवस्था के, जो एक भारी त्रुटि है।

यह सूचित करना आवश्यक है कि उत्तम काव्य के सब लक्षणो की दृष्टि से उसका विधान दूषित है। जैसा कि किसी ने कहा है, यदि शेक्सपियर, कीट्स और गेटे (Goethe) कवि हैं तो ह्विटमैन कदापि नहीं।" *

और विलायती हवाओं की तरह यह हवा भी बँगला से होती हुई हिन्दी में आई है और छायावाद के साथ उसकी विलक्षणता वढ़ाने के लिए जोड़ी गई है। पर यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि इसका रहस्यवाद से कोई सम्वन्ध नही। अत: इसके सम्वन्ध मे हम यहाँ कुछ अधिक नहीं कहा चाहते। छंद और लय (Rythm) के विषय में विचार करते समय इतना अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि कविता एक वहुत ही पूर्ण कला है। इस पूर्णता के लिए वह संगीत और चित्रकला दोनो की

---

* "A chaos of impressions, thoughts or feelings thrown together without rhyme, which matters little, without metre which matters more; and often without reason which matters much".

It must be pointed out, however, that all the canons of good poetry condemn his methods. As some one has said, if Shakespeare, Keats and Goethe were poets, Whitman is not

A. B. De. Mille Literature in the Century

(The Nineteenth Century Series).

पद्धति या थोड़ा-बहुत सहारा लेती है। दोनों की रमणीयता का योग उसकी रमणीयता के भीतर रहता है। जिस प्रकार रूप-विधान में वह चित्रविद्या का कुछ अनुसरण करती है, उसी प्रकार नाद-विधान में संगीत का। छंद वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचों (Patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लंबाई का होता है। लय स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं।

छन्द द्वारा होता यह है कि इन ढाँचों की मिति और इनके योग की मिति दोनों श्रोता को ज्ञात हो जाती हैं जिससे वह भीतर-ही-भीतर पढ़नेवाले के साथ-ही-साथ उसकी नाद की गति में योग देता चलता है। गाना सुनने के शौकीन गवैये के मुँह से किसी पद के पूरे होते-होते उसे किस प्रकार लोक लेते हैं, यह बराबर देखा जाता है। लय तथा लय के योग की मिति बिल्कुल अज्ञात रहने से यह बात नही हो सकती। जब तक कवि आप ही गाकर अपनी लय का ठीक ठीक पता न देगा तब तक पाठक अपने मन मे उसका ठीक-ठीक अनुसरण न कर सकेगा। अतः छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग मे हमें तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है। हाँ! नए-नए छन्दों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।

प्रेष्य भाव या विचार-धारा की छोटाई-बड़ाई के हिसाब से छोटे-बड़े चरणों की पूर्वा-पर स्थिति होनी चाहिए, यह प्रायः कहा

जाता है। इस पर पहली बात तो यह पेश हो सकती है कि किसी भाव या विचार की पूर्णता का सम्बन्ध वाक्य से होता है और वाक्य के लिए आजकल की पद्य-पद्धति के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि वह चरण के अन्त ही में पूरा हो। वह बीच में भी पूरा हो सकता है। यह अवश्य है कि चरण के बीच में एक वाक्य का अन्त और दूसरे का आरम्भ होने से कविता चुपचाप बाँचने के ही अधिक उपयुक्त होती है, लय के साथ जोर से सुनाने के उपयुक्त नहीं होती। जिन्होंने अच्छी लय के साथ किसी सुकंठ के मुँह से कविता का पाठ सुना है वे जानते हैं कि किसी कविता का पूर्ण सौन्दर्य्य उसके जोर से पढ़े जाने पर ही प्रकट होता है। छन्दों की चलती लय में कुछ विशेष माधुर्य्य होता है। हमें तो यह माधुर्य्य उस्तादों के पक्के गाने से, जिसके 'आ आ आ' के आगे बड़े-बड़े धीरों का धैर्य्य छूट जाता और बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है, कहीं अधिक आनन्दमग्न करता है। प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि ईट्स (W. B. Yeats) ने भी अपनी ऐसी ही रुचि प्रकट की है—

"पक्के गाने में कुछ ऐसी बात होती है जो मुझे सब दिन से बुरी लगती आई है। इसी तरह कोई कविता काग़ज़ पर छपी हुई मुझे अच्छी नहीं लगती। अब इसका कारण खुला। मैंने एक व्यक्ति को ऐसी सुन्दर लय और भाव के पूरे अनुसरण के साथ कविता पढ़ते सुना है कि यदि मेरे कहने के अनुसार कुछ लोग

कविता पढ़ने की कला सीख लेते तो मैं कोई कविता की पुस्तक बाँचने के लिए कभी खोलता ही न"। *

जिन्होने स्वर्गीय श्रीसत्यनारायण कविरत्न को कभी "या लकुटी अरु कामरिया" पढ़ते सुना है, वे यह अवश्य समझ गए होंगे कि किसी कविता का पूर्ण सौन्दर्य्य उसके सुन्दर लय के साथ पढ़े जाने पर ही प्रकट होता है। हाँ, ऊपर छोटे-बड़े चरणो की बात चली थी। छोटे-बड़े चरणों की यदि योजना करनी हो तो भिन्न-भिन्न छंदों के दो-दो चरण रखते हुए बराबर चले चलने में हम कोई हर्ज नहीं समझते। यह हमारा प्रस्ताव मात्र है।

लय भी तो एक प्रकार का बंधेज ही है। जब तक नाद-सौन्दर्य्य का कुछ भी योग कविता में हम स्वीकार करेंगे तब तक बंधेज कुछ न कुछ रहेगा ही। नाद-सौन्दर्य्य की जितनी मात्रा आवश्यक समझी जायगी उसी के हिसाब से यह प्रतिबंध रहेगा। इस बात का अनुभव तो बहुत-से लोगों ने किया होगा कि संस्कृत के मंदाक्रान्ता, स्रग्धरा, मालिनी, शिखरणी, इंद्रवज्रा,

---

* I have always known that there was something I disliked about singing, and I naturally dislike print and paper, but now at last I understand why, for I have found something better. I have just heard a peem spoken with so delicate a sense of its rythm, with so perfect a respect for its meaning, that if I were a wise man and could persuade a few people to learn the art, I would never open a book of verses again.

—Ideas of Good and Evil.

उपेंद्रवज्रा इत्यादि वर्ण-वृत्तों में नाद-सौन्दर्य्य की पराकाष्ठा है। पर उनका बंधन बहुत कड़ा होता है। अतः भावधारा या विचारधारा पूरी स्वच्छंदता के साथ कुछ दूर तक उनमे नहीं चल सकती। इसी से हिन्दी में मात्रिक छंदो का ही अधिक प्रचार रहा है। वर्ण-वृत्तो मे सवैये इस लिए ग्रहण किए गए कि उनमे लय के हिसाब से गुरु-लघु का बंधन बहुत कुछ शिथिल हो जाता है।

जो कविता में उतने ही नाद-सौन्दर्य्य की ज़रूरत समझते हैं जितना केवल लय (Rythm) के द्वारा सिद्ध हो जाता है उनसे हमें कुछ कहना नहीं है। हम अधिक की जरूरत समझते हैं और शायद बहुत-से लोग ऐसा ही समझते हो। रही यह बात कि छंद के बंधन से विचार के पैर बँध जाते हैं और कल्पना के पर सिमट जाते हैं। इसकी जाँच के लिए कवियो की रचना का इतना बड़ा मैदान खुला हुआ है। हिन्दुस्तानी कवियों की बात छोड़िए—क्योंकि विलायत की अंधाधुंध नकल से घबराकर ही यह सारा निबन्ध लिखा गया है—अँगरेज़ी के कवियों को लीजिए। क्या वर्ड्सवर्थ और शेली की ऊँची-से-ऊँची कविताएँ छंद और तुक से बँधी नहीं हैं? क्या औरों की ऊँची-से-ऊँची छन्दोमुक्त कविता उनके टक्कर मे रखी जा सकती है?

अब तक जो कुछ लिखा गया उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीज़ों का मुरब्बा है। जैसा हम पहले दिखा आए हैं 'रहस्यवाद'

या 'छायावाद' काव्य-वस्तु (Matter) से सम्बन्ध रखता है और 'अभिव्यंजना-वाद' का सम्बन्ध विधान-विधि (Form) से होता है। 'अभिव्यंजना-वाद' के साथ संयुक्त होकर बँगला से हिन्दी मे आने के कारण साधारणतः 'छायावाद' के स्वरूप की ठीक भावना बहुत-से रचयिताओं को भी नहीं होती। वे केवल ऊपरी रूप-रंग (Form) का अनुकरण करके समझते हैं कि हम रहस्यवाद या छायावाद की कविता लिख रहे हैं। पर वास्तव में उनकी रचना मे केवल 'अभिव्यंजना-वाद' का अनुसरण रहता है। 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत उन्हीं रचनाओं को समझना चाहिए जिनकी काव्यवस्तु रहस्यवाद के अनुसार हो। रहस्यवादी काव्य-वस्तु की पहचान हम पहले बता आए हैं।

यहाँ पर यह सूचित कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि छायावाद के अन्तर्गत बहुत-सी रचनाएँ ऐसी भी हुई हैं जिनमे अभिव्यंजना-वाद के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुंदर लाक्षणिक चमत्कार स्थान स्थान पर मिलता है। भावना का बहुत ही साहसपूर्ण संचालन, मूर्त्तिमत्ता का बहुत ही आकर्षक विधान और व्यंजना की पूरी प्रगल्भता पाई जाती है। ऐसी रचना करनेवाले कवियो से आगे चलकर बहुत-कुछ आशा है। अपनी इस आशा की सफलता के लिए हम अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनसे दो-तीन बातो का अनुरोध करते हैं। पहली बात तो यह कि वे 'वाद' का साम्प्रदायिक पथ छोड़कर, अपनी सब विशेषताओ के सहित, प्रकृत काव्यभूमि पर आएँ जिसपर संसार के

बड़े-बड़े कवि रहे हैं और हैं। दूसरी बात यह कि अनुकरण के लिए वे बँगला, अँगरेजी आदि दूसरी भाषाओं की ओर ताकना बिल्कुल छोड़ दें और अपनी भाषा की स्वाभाविक शक्ति से पूरा काम लें। तीसरी बात है, लाक्षणिक प्रयोगो में सावधानी। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जिस भाव से कोई शब्द लाया गया है उसके साथ वह ठीक-ठीक वैठता है या नहीं।

इसी छायावाद के भीतर कुछ लोगो की कविताएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनका स्वरूप विलायती नही होता, जो कुछ थोड़ा-सा बँगलापन लिए हुए सूफियों के तर्ज पर होती हैं। इनमे लाक्षणिकता भी पूरी रहती है, पर वह अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार होती है, अँगरेजी से उठाई हुई नही होती। ऐसी कविता लिखनेवाले वे ही हैं जो हिन्दी-काव्य-परंपरा से पूर्णतया परिचित हैं, जिन्हें अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है और जो हिन्दी में छायावाद प्रकट होने के पहले से अच्छी कविता करते थे। इनकी छायावाद की रचनाओ में भी भावुकता और रमणीयता रहती है। थोड़ा खटकनेवाली बात जो मिलती है वह है फारसी शायरी के ढंग पर वेदना की अरुचिकर और अत्युक्त विवृति। शरीर-धर्मों का अधिक विन्यास (Animality.) काव्यशिष्टता के विरुद्ध पड़ता है, यह शायद हम पहले कहीं कह आए हैं। जो हो, कोरे विलायती तमाशे से हम इसे सौ दर्जे अच्छा समझते हैं। यद्यपि रहस्य की ओर भारतीय काव्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नही; पर हिन्दी-काव्यक्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा बहुत दिनों पहले से बड़े हृदय-

ग्राही रूप मे हो चुकी है। इसके प्रवर्त्तक यद्यपि मुसलमान थे, पर वे सूफ़ी रहस्यवाद को भारतीय रूप देने में पूर्णतया सफल हुए थे। कबीर आदि निर्गुन-पंथियों और जायसी आदि सूफ़ी प्रेम-मार्गियों ने रहस्यवाद की जो व्यंजना की है वह भारतीय भाव-भंगी और शब्द-भंगी को लेकर।

अँगरेज़ी लाक्षणिक वाक्यों के अवतरण द्वारा विलायती तमाशा खड़ा करनेवालो का आदि रूप बीस-बाईस वर्ष पीछे मुझे आज स्मरण आ रहा है। उस समय हिन्दी के प्रेम में बहुत-से छात्र मेरे तथा मेरे साहित्य-प्रेमी मित्रों के पास भी, कविता सीखने की उत्कण्ठा प्रकट करते हुए, अँगरेज़ी की स्कूली किताबों में आई हुई कविताओं का प्रायः पद्यबद्ध शब्दानुवाद लेकर दिखाने आया करते थे। मैं उनसे बराबर यही कहता था कि "कविता के अभ्यास का यह मार्ग नहीं है। पहले खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों की कविताएँ पढ़कर अपनी काव्यभाषा की प्रकृति से पूर्णतया परिचित हो जाओ और इस प्रकार क्रमशः अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त करो। इसके पीछे रचना मे हाथ लगाओ। अँगरेज़ी कविताओं के अनुवाद से हिन्दी कविता करना नहीं आ सकता। अँगरेज़ी कविता करना क्या कोई हिन्दी-कविताओ का अनुवाद करके सीख सकता है?" ऐसे छात्रो को मैं बराबर उनके अनुवाद-सहित लौटा दिया करता था। पर कुछ दिनो पीछे उन पद्यानुवादो में से कई एक मासिक पत्रिकाओ मे छपे दिखाई पड़ते थे। जब यह प्रवृत्ति कुछ बढ़ती दिखाई पड़ने

लगी तब मेरे मन में यह बात आई थी कि इसका परिणाम आगे चलकर अच्छा न होगा। आज वही परिणाम 'गद्यमय जीवन' (Prosaic life), सुवर्ण स्वप्न (Golden dream), 'स्वप्न अनिल' (Dreamy atimosphere), 'स्वप्निल आभा' (Dreamy splendour) आदि के रूप में झलक रहा है।

अतः हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में यदि 'रहस्यवाद' के लिए कुछ अधिक स्थान करना है तो स्वाभाविक रहस्य-भावना का—उसके वादग्रस्त या साम्प्रदायिक रूप का नहीं—अवलम्बन करना चाहिए और उसकी व्यंजना के लिए अपनी भाषा की—विदेशी भाषा की नहीं—सब शक्तियाँ लगानी चाहिए। भद्दे अनुकरण से काव्य की किसी शाखा का निर्माण नहीं हो सकता। अन्धानुकरण के अभ्यास का अनिष्ट प्रभाव कई तरफ पड़ता है। यहाँ पर हमसे बिना यह कहे आगे नहीं बढ़ा जाता है कि छायावाद की कविताओं की अपेक्षा हमें तो रहस्यभावना पूर्ण जो दो-एक गद्यकाव्य निकले हैं वे अधिक भावुकतापूर्ण और रमणीय जान पड़ते हैं, विशेषतः राय कृष्णदासजी की "साधना"। इसमें न तो साम्प्रदायिक रहस्यवाद के शाबर मन्त्र हैं, न 'अभिव्यंजनावाद' का अभिनय और न शब्दों की विलायती कलाबाजी। इसका हृदय भी भारतीय है, वाणी भी भारतीय है और दृष्टि भी भारतीय है। जिन अनुभूतियो की व्यंजना है वे कहीं भीतर से आती हुई जान पड़ती हैं, आसमान से उतारी जाती हुई नहीं।

पदविन्यास में जो सरलता और प्रांजलता है वह भी हमारी है; जो वक्रता और विचित्रता है वह भी हमारी है। जिन मधुर 'प्रतीको' का व्यवहार हुआ है वे भी हमारे हृदय के सगे हैं।

अब तो कदाचित् इस बात के विशेष विवरण की आवश्यकता न होगी कि जो 'छायावाद' नाम प्रचलित है वह वेदान्त के पुराने प्रतिबिम्बवाद का है। यह प्रतिबिम्बवाद सूफ़ियों के यहाँ से होता हुआ योरप में गया जहाँ कुछ दिनो पीछे 'प्रतीकवाद' से संश्लिष्ट होकर धीरे-धीरे बंगसाहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा। यह काव्यगत रहस्यवाद के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक शब्द है। इसके इतिहास की ओर ध्यान न देने के कारण अनेक प्रकार की मनमानी व्याख्याएँ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं मे समय-समय पर निकला करती हैं जिनमें कहीं रहस्यवाद और छायावाद का कल्पित भेद समझाया जाता है; कहीं 'छायावाद' ही के अर्थ में एक और 'बिंबवाद' खड़ा करके दोनों का 'वस्तुवाद' (?) के साथ विरोध कुछ शब्दाडंबर के साथ दिखाया जाता है। ऐसे लोगो को शब्दों का प्रयोग करते समय शास्त्र-पक्ष का कुछ पता रखना या कम से-कम लगा लेना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि 'बिंब', 'छाया' का बिल्कुल उलटा है और उसी अर्थ में आता है जिस अर्थ मे उन्होने 'वस्तु' शब्द का प्रयोग किया है। जो मूल वस्तु प्रतिबिंब या छाया फेंकती है शास्त्रीय भाषा में वही बिंब कहलाती है। जिस Realism

शब्द के लिए उन्होंने 'वस्तुवाद' शब्द बनाया है वह दार्शनिक भाषा में 'बाह्यार्थवाद' कहलाता है।

यहाँ पर हम यह बहुत स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हिन्दी-काव्यक्षेत्र में हम रहस्यवाद की भी एक शाखा चलने के विरोधी कभी नहीं हैं। हमारा कहना केवल यही है कि वह वाद के रूप में न चले; स्वाभाविक रहस्यभावना का आश्रय लेकर चले। छायावाद का रूप-रंग बना कर आजकल जो बहुत-सी कविताएँ निकली हैं उनमें कुछ तो बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और सच्ची रहस्यभावना लेकर चली हैं; कुछ वादग्रस्त और कृत्रिम हैं और अधिकांश कुछ भी नहीं हैं। शुद्ध काव्यदृष्टि का प्रचार हो जाने पर पूर्ण आशा है कि कूड़े करकट के ढेर में से सच्ची स्वाभाविक रहस्यभावना अपना मार्ग अवश्य निकाल लेगी और हिन्दी-काव्य-क्षेत्र की यह शाखा भी अपनी एक स्वतंत्र भारतीय विभूति का प्रकाश करेगी। अनुकरण-युग का अन्त होगा, इसका हमें पक्का भरोसा है।

'अभिव्यंजना-वाद' किस प्रकार व्यंजन-प्रणाली की वक्रता और विलक्षणता पर ही ज़ोर देता है, यह हम देख चुके। यह हमारे यहाँ का पुराना 'वक्रोक्तिवाद' ही है, यह भी हम निरूपित कर आए। इसके कारण शब्दाडंबर की कितनी अधिकता हुई है, यह बात भी हम देख रहे हैं। यह कई बार हम सूचित कर चुके हैं कि योरप के समीक्षा-क्षेत्र में जितने 'वाद' निकलते हैं सब एकांगदर्शी होते हैं; किसी एक ही दिशा में आँख मूँदकर हद के

बाहर बढ़ते चले जाते हैं। उनमें सामंजस्य-बुद्धि का अभाव होता है। अतः इस 'अभिव्यंजना-वाद' से हम केवल इतना ही तथ्य ग्रहण कर सकते हैं कि हमारी काव्य-भाषा में व्यंजना-प्रणाली के और अधिक प्रसार और चित्ताकर्षक विकास की बहुत आवश्यकता है।

हमारी पुरानी कविता में व्यंजना-प्रणाली के प्रसार और चमत्कार के लिए अलंकारों का ही विधान अधिकतर होता था। पर अलंकारों के अधिक प्रयोग से कविता कितनी भाराक्रान्त और कहीं-कहीं कितनी भद्दी हो जाती है, इसके उदाहरण केशव-दासजी की रचनाओ मे बिना ढूँढ़े मिलेगे। अलंकार बहुत जगह लेते हैं और बहुत दूर तक भावना को एक ढाँचे के भीतर बन्द किए रहते हैं। अतः उनका संयत प्रयोग वहीं होना चाहिए जहाँ विचार या भावना के पूर्ण प्रसार या भाव की यथेष्ट व्यंजना के लिए व्यास-विधान अपेक्षित हो। अब इस समय हिन्दी-काव्य-भाषा मे मूर्त्तिमत्ता की समास-शक्ति का, लक्षणा-शक्ति का, अधिक विकास अपेक्षित है। काव्य में अधिकतर सादृश्य या साधर्म्य-मूलक अलंकारो का व्यवहार होता है। पर बहुत-से स्थलो पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के बँधे हुए लम्बे-चौड़े ढाँचो की अपेक्षा लक्षणा से बहुत अधिक रमणीयता और वाग्वैचित्र्य का सम्पादन हो सकता है। लाक्षणिकता के सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भावक्षेत्र और विचार-क्षेत्र दोनो मे बहुत दूर तक, बहुत ऊँचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेक सकती है। छायावाद समझ कर लिखी हुई कविताओं में से

वहुतों में, अनुकरण-वश सही, लाक्षणिकता की ओर अधिक प्रवृत्ति देख वड़ी प्रसन्नता होती है।

लाक्षणिकता के अधिक विधान की आवश्यकता किसी शाखा-विशेप के भीतर ही नहीं; समूचे हिन्दी-काव्य-क्षेत्र के भीतर है। पर यह विधान खूव समझ-वूझकर होना चाहिए। न तो अपनी भापा की प्रकृति की इतनी अवहेलना होनी चाहिए कि अँगरेज़ी के लाक्षणिक प्रयोग शव्द-प्रति-शव्द रख लिए जायँ और न उर्दूवालो की तरह मुहावरे से फिसलने का इतना डर छाया रहना चाहिए कि विल्कुल उड़ने से कुछ पहले की अवस्था सूचित करने के लिए "खवर फड़फड़ा रही है" लिखते हाथ रुक जाय। सामंजस्य-वुद्धि से काम लेते हुए अग्रसर होना होगा। मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग ही हैं, पर वँधे हुए। उनसे किसी भापा की लाक्षणिक प्रवृत्ति के स्वरूप का पता चलता है। अतः उनका सूत्र पकड़े हुए लक्षणा इधर-उधर अच्छी तरह वढ़ सकती है। उदाहरण के लिए 'लालसा जगना' लीजिए। इसके इशारे पर "लालसा सोती है" हम वेधड़क कह सकते हैं। पर वहुत आगे वढ़कर "लालसा का आँख मलना, करवट वदलना या अँगड़ाइयाँ लेना" 'मुँह का कमल को लात मारना' हो जायगा। लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता गुड़ियो का खेल न होने पाए। हमारा मतलव यह नही कि मुहावरों के रास्ते के भीतर ही लक्षणा अपने हाथ पैर फैलाए। तात्पर्य्य इतना ही है कि अपनी भापा की प्रकृति परखकर और सुरुचि का ध्यान रखकर चला जाय।

छायावाद या रहस्यवाद के सम्बन्ध में जान बूझकर या अज्ञानवश तरह-तरह की भ्रान्ति हिन्दी-पाठकों के बीच फैलाने की जो चेष्टा की जाती है, वह असभ्यता-सूचक है। यह कहना कि रहस्यवाद ही वर्त्तमान युग की कविता है और योरप में चारों ओर यही कविता हो रही है या तो घोर अज्ञान है या छल। ब्लेक आदि के पीछे सन् १८८५ में जो प्रतीकवाद-मिश्रित नूतन रहस्यवाद फ्रांसीसी साहित्य-क्षेत्र के एक कोने में प्रकट हुआ—जिसकी नकल बँगला से होती हुई हिन्दी में आई—वह किस प्रकार एक साम्प्रदायिक वस्तु है और योरप के अधिकांश साहित्यिकों द्वारा किस दृष्टि से देखा जाता है, यह हम अच्छी तरह दिखा चुके हैं। दूसरी बात लीजिए। हम नहीं समझते कि बिना हिन्दीवालों की खोपड़ी को एकदम खोखली माने उनके बीच इस प्रकार के अर्थशून्य वाक्य छायावाद के सम्बन्ध में कैसे कहे जाते हैं कि "यह नवीन जागृति का चिह्न है; देश के नवयुवकों के हृदय की दहकती हुई आग है, इत्यादि, इत्यादि"। भला, देश की नई 'जागृति' से, देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूति से और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झाँकी आदि का क्या सम्बन्ध? क्या हिन्दी के वर्त्तमान साहित्य-क्षेत्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बिलकुल टूट गया है? क्या शब्दों की गर्द-भरी आँधी विलायत के कला-क्षेत्र से धीरे-धीरे हटती हुई अब हिन्दीवालों का आँख खोलना मुश्किल करेगी?

यदि ऐसा नहीं है तो मासिक पत्रिकाओ में कभी-कभी योरप की काव्य-समीक्षा की पुस्तकों की केवल आलंकारिक पदावली विना किसी विचार-सूत्र के काव्य या कला की आलोचना के नाम से कैसे निकला करती हैं ? किसी अँगरेज़ी या बँगला के कवि के सम्बन्ध में लिखी हुई लच्छेदार उक्तियाँ किसी नये या पुराने हिन्दी-कवि के सम्बन्ध में नई आलोचना के रूप में कैसे भिड़ा दी जाती हैं ? ऐसी कार्रवाइयाँ हिन्दी-साहित्य के स्वतन्त्र विकास मे वाधक हो रही हैं। हिन्दी-पाठकों को इस प्रकार अन्धा मान लेना हम वड़े अपमान की वात समझते हैं।

यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का, हमारे साहित्य-शास्त्र का, एक स्वतन्त्र रूप है जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतंत्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को, पहले जव हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशो के साहित्य के स्वतंत्र पर्य्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमे अपनी दृष्टि से दूसरे देशो के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। जव तक हम इस विचार-सामर्थ्य का सम्पादन न कर लेंगे तव तक अफ्रिका के जंगलियों की तरह—जो अँगरेजों के उतारे कपड़े वदन पर डाल-कर स्वर्वगियो के वीच वड़ी ऐंठ से चला करते हैं—भद्दी नकल को ही नवीनता मानकर सन्तोष करते रहेगे और सभ्य-जगत् के उपहास-भाजन वने रहेगे। हमारी आँख अपना स्वरूप तक न

देख सकेगी, विदेशी दर्पण की आवश्यकता होगी। विदेशी लोग जैसा हमें बतावेंगे वैसा ही अपने को मानकर हम उसके प्रमाण उनके सामने रखा करेंगे। योरप ने कहा "भारतवासी बड़े आध्यात्मिक होते हैं; उन्हे भौतिक सुख-समृद्धि की परवा नहीं होती"। बस, दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता। देखिए, हमारे काव्य मे भी आध्यात्मिकता है; यह देखिए हमारी चित्रविद्या की आध्यात्मिकता, यह देखिए हमारी मूर्त्तिकला की आध्यात्मिकता।

जितनी बातें आजकल काव्यक्षेत्र में 'नवीनता' कहकर पेश की जाती हैं, एक-एक करके सबका मूल हम योरप के नए पुराने प्रचलित प्रवादों में दिखा चुके हैं। सब नक़ल की नकल हैं। इस नकल की प्रवृत्ति बंगाल मे ही सबसे अधिक रही। वहीं के साहित्य मे एक-एक बात की नकल शुरू हुई। नकल से किसी जाति के साहित्य का असली गौरव नहीं हो सकता। इससे उसकी अपनी संस्कृति अपनी सभ्यता और अपनी उद्भावना का अभाव ही व्यंजित होता है। जिसकी नकल की जाती है वह और भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। वंग-भाषा के साहित्य में योरपीय साहित्य की प्रवृत्तियो की यह भद्दी नकल देख सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपनी "भाषाओ की जाँच" में स्पष्ट विरक्ति प्रकट की है। एक जगह की प्रचलित और सामान्य वस्तुओ को दूसरी जगह विकृत रूप मे रखकर नवीनता की विज्ञप्ति करना किसी सभ्य जाति को शोभा नहीं देता। यह नवीनता नहीं है—अपने स्वरूप का

घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रान्त हृदय का घोर नैराश्य है, कहाँ तक कहें? घोर साहित्यिक गुलामी है। जब तक इस गुलामी से छुटकारा न होगा तब तक नवीनता के दर्शन कहाँ? नक़ल के भीतर की नवीनता भी नक़ल ही के पेट में समा जाती है।

दुनिया जानती है कि जब से फारसी और संस्कृत के काव्यों के अनुवाद योरप के भिन्न-भिन्न देशों में होने लगे तभी से पूरबी रंग (Orientalism) की बहुत कुछ झलक वहाँ की कविताओं में दिखाई पड़ने लगी। पर इस बाहरी रंग को उन्होंने अपने रंग में ऐसा मिला लिया कि इसकी पृथक् सत्ता कहीं से लक्षित नहीं होती। उनके अपने विचारों का ऐसा स्वतन्त्र और सघन प्रसार था कि बाहर से आते हुए विचार उसी में समाते गए। उनकी अपनी विचारधारा इतनी सबल थी कि बाहर से आकर मिले हुए सोते अपनी उछल-कूद अलग न दिखाकर, उसी के वेग को बढ़ाते रहे। इसका नाम है स्वतन्त्र 'प्रगति' और स्वतन्त्र 'विकास'।

अन्त में हम इतना और कहकर अलग होते हैं कि हम सारा काव्यक्षेत्र देव, मतिराम और बिहारी आदि के घेरे के भीतर देखनेवाले पुरानी लकीर के फकीर न कभी रहे हैं और न हैं। हम अपने हिन्दी-काव्य को विश्व की नित्य और अनन्त विभूति में स्वच्छन्दता पूर्वक, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार, अपना

आँख खोलकर, विचरण करते देखना चाहते हैं। पर यह दिन तभी आ सकता है जब हमारी अन्तर्दृष्टि को आच्छन्न करनेवाले परदे हटेंगे और हमारे विचारो में बल आएगा। इसके पहले हम बाहर के नाना वादों और प्रवादों की ओर आँखें मूँदकर लपका करेंगे। अपने विचार के परीक्षालय में उनकी पूरी जाँच न करके उनके अनुकरण में ही अपने को धन्य माना करेंगे।

इस परीक्षालय की नूतन प्रतिष्ठा के लिए हमें अपनी रसनिरूपण-पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि को सहायता से खूब प्रसार और संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नीवँ बहुत दूर तक डाली गई है; पर इसके ढाँचो का, नए-नए अनुभवों के अनुसार, अनेक दिशाओं मे फैलाव बहुत ज़रूरी है। योरप के साहित्यिक वादों और प्रवादों के सम्बन्ध मे यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि वे प्रतिवर्त्तन (Reaction) की झोक में उठते हैं और किसी ओर हद के बाहर बढ़ते चले जाते हैं। उनमे सत्य की मात्रा कुछ-न-कुछ रहती अवश्य है, पर किसी हद तक ही। हमे देखना चारो ओर चाहिए; पर सब देखी हुई बातों का सामंजस्य-बुद्धि से समन्वय करना चाहिए। जैसा हम आरम्भ ही में कह चुके हैं, यही सामंजस्य भारतीय काव्यदृष्टि की विशेषता है। यही सामंजस्य अनेकरूपात्मक जीवन और अनेक भावात्मक काव्य की सफलता का मूल-मन्त्र है।

साहित्यभूषण-कार्यालय के ग्रन्थ-रत्न

१—सूक्ति सरोवर

(सम्पादक—लाला भगवानदीनजी)

यदि आप हिन्दी के प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों की चमत्कार-पूर्ण प्रतिभा, अनोखी सूझ और कविता की उत्कृष्ट कला को देखना और काव्य-रस का आस्वादन करना चाहते हैं तो सैकड़ों काव्य-ग्रन्थ न पढ़ कर "सूक्ति-सरोवर,' को पढ़िए। इसमें सूरदास और केशव, तुलसीदास और बिहारी, मतिराम और भूषण, पद्माकर और देव, महावीरप्रसाद द्विवेदी और नाथूराम इत्यादि की ऐसी-ऐसी रसीली और चमत्कार-पूर्ण उक्तियों का संग्रह है कि कोई भी काव्य-प्रेमी प्रसन्न हुए बिना नहीं रह सकता। एक-एक उक्ति अमूल्य है और कई ऐसी हैं जिन पर लाखों रुपये न्यौछावर किये जा चुके हैं। काव्यरसिकों के लिए यह नई पुस्तक है।

इसमें 'देव-घाट' 'प्रकृित-घाट,' 'ऋतु-घाट' 'श्रृङ्गार-घाट' और मानव-घाट नामक ५ घाट हैं, और प्रत्येक घाट में भिन्न-भिन्न विषयों की एक-से-एक बढ़कर उक्तियाँ, व्याख्यापूर्वक दी गई हैं जिससे हिन्दी का साधारण ज्ञाता भी उक्ति के भाव और चमत्कार को सरलता से समझ सके। संग्रहकर्ता और व्याख्याता हैं हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी। पुस्तक अच्छे मोटे ऐण्टिक काग़ज़ पर छपी है। पृष्ठ-संख्या लगभग ५०० है। मूल्य केवल २॥)

२—प्रिया-प्रकाश

(टीकाकार—लाला भगवानदीनजी)

यह केशवदासकृत 'कविप्रिया' नामक ग्रंथ की टीका है। यदि आप काव्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान संपादन करना चाहते हैं, तो बिना इस ग्रंथ को पढ़े निस्तार नहीं। कई एक ऊँची परीक्षाओं में यह पुस्तक पाठ्य ग्रंथ है। "अवशि देखिये देखन जोगू"। मूल्य सजिल्द २।) बिना जिल्द का २)

३—विनय-पत्रिका

(टीकाकार—लाला भगवानदीनजी)

तुलसीदासजी की विनयपत्रिका से ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अपरिचित हो? यह राम-भक्तों के लिये अमूल्य वस्तु है। रामायण के साथ-ही-साथ हरएक हिन्दू के घर में इस पुस्तक का रहना भी आवश्यक है। पुस्तक में शब्दार्थ, सरल सुबोध टीका, अलंकार, भक्ति के सिद्धान्त और भूमिका भी दी गई है। भूमिका में तुलसीदासजी की भक्ति का सिद्धान्त अच्छी तरह दिखलाया गया है। इन सब सामग्रियों से पुस्तक की शोभा बहुत बढ़ गई है। बढ़िया कागज पर छापी हुई ५०० पृष्ठ की सुन्दर पुस्तक का मूल्य १।।) मात्र।

४—नवीन-बीन

(रचयिता—श्रीयुक्त लाला भगवानदीनजी)

इसमें कविवर दीनजी की चुनी हुई ४२ अनूठी कविताओं का परम रमणीक संग्रह है, जिनमें सत्रह कविताएँ सचित्र हैं। कुशल शब्द-शिल्पी की रचना को चित्र-शिल्पी की कुशलता ने और भी

सजीव बना दिया है। कविताएँ इतनी सरल और सरस हैं कि उन्हें बालक भी बड़े चाव से पढ़ सकते हैं। भाव ऐसे अनोखे हैं कि पढ़कर तबीयत फड़क उठती है। उर्दू-शैली ने कविता में और भी रुचि उत्पन्न कर दी है। कई कविताओं में लालाजी की ओजस्विनी लेखनी ने कमाल कर दिया है। अभी तक लालाजी की उत्तमोत्तम कविताओं का ऐसा सर्वाङ्ग-सुन्दर कोई संग्रह नहीं निकला था। पृष्ठ-संख्या लगभग १५०, सत्रह चित्र, बढ़िया कपड़े की जिल्दसहित पुस्तक का दाम २)

५—बिहारी-बोधिनी

(टीकाकार—लाला भगवानदीनजी)

बिहारी-सतसई कितनी अच्छी पुस्तक है यह बतलाने की ज़रूरत नहीं, यह एक अनमोल रत्न है। पर कठिन इतनी है कि बड़े-बड़े लोग भी इसके दोहों का अर्थ करने में धोखा खा जाते हैं, और अर्थ ही नहीं समझते। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये बिहारी-सतसई की यह टीका प्रकाशित की गई है। इसकी समानता की बाजार में कोई टीका नहीं है। कागज और छपाई इत्यादि बहुत सुन्दर, लगभग ४०० पृष्ठ की ऐंटिक काग़ज़ पर छपी सचित्र पुस्तक का दाम १।।।), रफ़ काग़ज़ का अजिल्द १।=)

६—सूर-पंचरत्न

(संपादक—लाला भगवानदीनजी)

यह पुस्तक बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी की बी० ए० परीक्षा तथा मध्यप्रान्त और बिहार आदि की अनेक

परीक्षाओं में पाठ्यपुस्तक नियत है। कारण यही है कि सूरदास की कविताओं का इससे उत्तम संग्रह दूसरा नहीं है। कठिन शब्दों के अर्थ तथा प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका होने के कारण पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। यदि आप सूर की कवि-ताओं के प्रेमी हैं तो इस पुस्तक को अवश्य मँगाइए। ग्लेज कागज़ पर छपी हुई सुन्दर पुस्तक का मूल्य केवल १॥)

७—सटीक कवितावली

(सम्पादक—प्रो० लाला भगवानदीनजी

गोस्वामी तुलसीदासजी की कवितावली जो इलाहाबाद-यूनीवर्सिटी की इण्टरमीडियट परीक्षा. और एडवांस परीक्षा में पाठ्यपुस्तक नियुक्त है, अब तक विद्यार्थियों के उपयुक्त इसकी कोई उत्तम टीका नहीं थी। इस पुस्तक की सरल सुबोध और सामयिक टीका श्रीयुत लाला भगवानदीनजी द्वारा लिखवाकर प्रकाशित की गई है।

अनेक परीक्षाओं में पाठ्यपुस्तक नियुक्त होने के कारण इसे विद्यार्थियों के उपयुक्त बनाने का पूरा ध्यान रक्खा गया है। सुबोध टीका के अतिरिक्त इसमें कठिन शब्दों के अर्थ उनके शुद्ध रूप, पुस्तक में प्रयुक्त छन्दों के लक्षण और अलंकार तथा पौरा-णिक कथाएँ भी दे दी गयी हैं। तुलसीदास ने इसमें जिन-जिन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है, उन्हें भी यथास्थान दिखलाया गया है। हिन्दी की सभी पत्र-पत्रिकाओं ने इसकी प्रशंसा की है। ऐण्टिक कागज़ पर छपी हुई ३९० पृष्ठ की सुन्दर उपयोगी पुस्तक सजिल्द का दाम १॥) बिना जिल्द का १।)